

भाग्य एवं पुरुषार्थ

(Fate and Efforts)

लेखक / समीक्षक
उपाध्याय कनकनंदी

प्रकाशक :
धर्मदर्शन विज्ञान शोध संस्थान
बड़ोत, मेरठ, जयपुर

भाग्य एवं पुरुषार्थ

(Fate and Efforts)

लेखक / समीक्षक

उपाध्याय कनकनंदी

प्रकाशक :

धर्मदर्शन विज्ञान शोध संस्थान

बडोत, मेरठ, जयपुर

। तीय
रहने
द्रव्य
धर्म
को
अतः
। दित
र्म में
सूक्ष्म
म के
इमारे
लिए
स्तक
एवं
नेकर
तक
लेपि
। लेज
।

। द्वारा
त के
स्तके
रे से
पके
चित
शित

यान
यह

111

भाग्य एवं पुरुषार्थ

लेखक :	एलाचार्य उपाध्याय कनकनंदी जी महाराज ।
आशीर्वाद :	गणधराचार्य श्री कुन्दुसागर जी महाराज ।
सहयोगी :	बालाचार्य श्री पद्मनंदीमुनि जी, मुनि श्री कुमार विद्यानंदी जी, आर्थिका राजश्री माता जी, आर्थिका क्षमाश्री माताजी ।
सम्पादक :	श्री प्रभात कुमार जैन (एम. एस. सी., रसायन प्रवक्ता) मुजफ्फरनगर । श्री रघुवीर सिंह जैन (एम. एस. सी., एल. एल. बी., भूतपूर्व प्रोफेसर) मुजफ्फरनगर ।
कार्याध्यक्ष :	श्री सुशील कुमार जैन (एम. एस. सी. भौतिकी) बड़ौत ।
मंत्री :	श्री भंवरलाल जी पटवारी, बैज्ञानिक
प्रकाशन संयोजक :	श्री नेमीचन्द्र काला, जयपुर
सौजन्य से :	श्री प्रेमचन्द्र, राजमल एवं मदनलाल पाटोदी (रोटेदा वाले), 278, शापिंग सेन्टर, कोटा (राज.) द्वारा उनके पूज्य पिता स्व. श्री गुलाबचन्द जी पाटोदी की पुण्य स्मृति में ।
प्राप्ति स्थान :	(1) धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान, बड़ौत, मेरठ, जयपुर । (2) नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना, जयपुर - 3
सर्वाधिकर सुरक्षित :	लेखकाधीन
संस्करण :	पंचम, 1995
मूल्य :	स्वाध्याय चिन्तन व ध्यान (रु. 15.00)
मुद्रणकार्य :	नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जयपुर - 3 द्वारा

हृदयोदगार

जैन धर्म एक सार्वभौमिक, त्रिकाल अबाधित, परम सत्य वस्तु स्वभाव गणितीय अनेकान्तात्मक वैज्ञानिक धर्म है । अतएव जैन धर्म एक संकृष्टित परिधि में रहने वाला मत, सम्प्रदाय, रूढ़ी, परम्परा या वाद नहीं है । परन्तु विश्व के प्रत्येक द्रव्य के प्राकृतिक स्वभाव का निर्णायिक, प्रतिपादक होने के कारण प्राकृतिक विश्व धर्म है । इस धर्म ने प्रत्येक जीव के अधिकार, सत्ता, सुरक्षा, आत्म कल्याण को स्वीकार करने के कारण यह धर्म अखिल विश्व के जीव जगत् का धर्म है । अतः यह धर्म विश्व धर्म है । यह धर्म सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण निर्दोष, सर्व जीव हितकारी, सर्व जीव सुखकारी है । इस धर्म में विश्व के सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ, रहस्य, ज्ञान-विज्ञान सिद्धान्त का वर्णन सूक्ष्म अकार्य, तक बद्ध, गणितीय प्रणाली से वर्णन किया गया है । इसलिये इस धर्म के सम्पूर्ण महत्वपूर्ण सिद्धान्त, जन-जन को प्राप्त हों, ऐसी महवि भावना हमारे हृदय में बहुत समय से आलोड़ित हो रही थी । उस भावना को साकार देने के लिए हमने प्रत्येक पहलू को लेकर लिखने का कार्य प्रारम्भ किया । प्रायः प्रत्येक पुस्तक में जैन धर्म के साध-साथ अन्यान्य बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम धर्म, प्राच्य एवं पाश्चात्य के दर्शन, आधुनिक विभिन्न प्रकार वैज्ञानिक प्रकरण को लेकर तुलनात्मक पद्धति से प्रतिपादित करने का यत्किञ्चित् प्रयास किया है । अभी तक प्रायः 50-55 पुस्तकों की रचना पूर्ण हो गई है । कुछ किताबों की पाण्डुलिपि सुशील चन्द्र जैन एम० एस-सी० भूतपूर्व प्रवक्ता, भौतिकी विज्ञान हिन्दू कालेज सौनीपत ने अध्ययन किये । उसमें वर्णित आधुनिक-वैज्ञानिक पद्धति से जैन धर्म के सिद्धान्त का अवलोकन करके वे बहुत ही प्रभावित हुए । वे हमारे द्वारा लिखित पुस्तकों के बारे में अन्यों के साथ चर्चा किये, इस कारण कुछ बड़ौत के धर्म-प्रेमी श्रावक प्रभावित हुए कि हमारे पास बहुत ही महत्वपूर्ण अनेक पुस्तकें अप्रकाशित रूप से अनेक दिनों से विद्यमान हैं । तब वे उत्साहित होकर मेरे से जिज्ञासा किये की महाराज जी ! इतनी महत्वपूर्ण किताबें अप्रकाशित रूप से आपके पास होते हुए भी पहले से हमें क्यों सूचित नहीं किया । यदि आप पहले सूचित करते तो आपके इस बड़ौत चातुर्मास की अवधि में ही सम्पूर्ण साहित्य प्रकाशित हो जाता ।

हमने कहा कि हम निर्गन्ध साधु हैं, इस कारण से हमारा मुख्य कर्तव्य ध्यान अध्ययन है । इस सिलसिले से शुभ ध्यान एवं अध्ययन के अंग स्वरूप हमने यह पुस्तकें लिखी है । जैसे-- कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है--

ज्ञाणाञ्जवणं मुक्त्वं जदि धम्मे तं विणा तहा सो वि ॥

रथणसार ॥11॥

ध्यान और अध्ययन मुनियों का मुख्य धर्म है यदि मुनि होकर भी ध्यानाध्यन नहीं करते वे मुनि ही नहीं हैं। इसलिये हमने अपना कर्तव्य पालन करने के लिये पुस्तकों की रचना की है। आप श्रावक हैं तो अपना कर्तव्य भी स्वयं ही करिये। साधुओं को बोलने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। पुस्तकादि छपने के लिए कहन पर मुनियों की अयाचक वृत्ति में दोष लगता है। साधु अपनी अयाचक वृत्ति, अपने स्वाभिमान और स्वावलम्बनता को अक्षुण्ण रखने के लिए केशलोच करते हैं। एक-दो रुपये क्या श्रावकों से मांगकर बाल नहीं कटवा सकते थे? नहीं, रुपये याचन करने से मुनि एक दीनहीन भिखारी के समान हो जायेगा। कबीर दास ने भी कहा है--

(1) मांगन मरण समान है, मत मांगो कोई भीख ।

मांगन से मरना भला, यह सत्तगुरु की सीख ॥

(2) बिन मांगे दे दूध बराबर, मांगे सो दे पानी ।

वह देना है खून बराबर, जामे खेंचातानी ॥

(3) बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख ।

उपरोक्त हमारी बात सुनकर वे श्रावक बोले कि महाराज जी! संकीर्ण स्वार्थ के लिये बोलने से दोष लग सकता है परन्तु धर्म के लिए, जिनवाणी के लिये, मुनियों को बोलना ही चाहिए। उसमें कोई दोष की बात नहीं हैं। हमने कहा कि हमारी प्रतिज्ञा है कि हम दूसरों से याचनात्मक कोई भी कार्य नहीं करेंगे। इसके उपरान्त श्रावक लोग भक्ति से नम्र होकर निरुत्तर हो गये। उन श्रावकों में से एक राजेश कुमार जैन नामक नवयुवक बोला महाराज जी मैं “भाग्य एवं पुरुषार्थ” की पुस्तक प्रकाशित करूँगा इसीलिए पाण्डुलिपि मुझे दे दीजिये। तत्क्षण ही हमने “भाग्य और पुरुषार्थ” की पाण्डुलिपि उनको दे दी।

यथार्थ में पंचमकाल में नवयुवक एवं नवयुवतियाँ ही धर्म की उन्नायक, प्रचार, प्रसारक एवं कर्णधार बनेंगे। उसका ही ज्वलन्त उदाहरण ये नवयुवक प्रस्तुत कर रहे हैं। अनिल कुमार जैन नामक नवयुवक ने भी “पुण्य-पाप मीमांसा” नामक पुस्तक साग्रह पूर्वक मांगकर प्रकाशित करायी। मिश्री लाल बाकलीबाल, राजस्थान निवासी गोहाटी प्रवासी ने भी “धर्म दर्शन एवं विज्ञान” नामक पुस्तक प्रकाशनार्थ साग्रह अनुरोध किये हैं।

श्रावकों के षड्कर्तव्य में से दान प्रथम एवं प्रधान कर्तव्य है। जो दान-पूजा नहीं करता है वह यथार्थ से श्रावक नहीं है। कुन्दाकुदाचार्य ने कहा भी है--

दाणं श्या मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा । १७१ ॥

(रघुसार)

पूजा एवं दान मुख्य कर्तव्य हैं जो श्रावक पूजा एवं दान नहीं करता है वह श्रावक ही नहीं हैं दान का महत्व बताते हुए पूर्वोचार्यों ने निम्न प्रकार उल्लेख किये हैं--

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन - निर्भयोऽभयदानतः ।

अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्वाधिर्भेषजात्भवेत् - ॥

ज्ञान दान से दानी ज्ञानवान बनता है। वह वृद्धि, वृद्धि सम्पन्न महानदानी गणधार के वेली बनता है। जीवों को अभयदान देने से दानी निर्भयी होता है। अन्न दान देने से नित्य सुखी होता है, और धध दान देने से दानी रोग मुक्त होता है।

हस्तस्य भूषणं दानं, सत्यं कंठस्य भूषणम् ।

श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्रं, भूषणैः किं प्रयोजनम् । ।

हस्त का भूषण दान है कंठ का भूषण सत्य वचन है, कान का भूषण सत्-शास्त्र श्रवण है। उपरोक्त भूषण जो धारण करता है उसे अन्य आभूषणों की व्या आवश्यकता है ?

प्रत्येक महान् कार्य परस्पर सहकारित्व से सम्पन्न होता है। हमारा लेखन का बहुत व्यापक और अधिक कार्य होने से मेरे लेखन कार्य एवं प्रतिलिपि में हमारे ही धर्म बन्धु मुनि श्री पद्मनंदी, मुनि श्री कुमार विद्यानन्दी, आर्यिका राजश्री माताजी, आर्यिका क्षमाश्री माताजी, कु० सुयश जैन {आरा} कु० सुलभ जैन {आरा} कु० संगीता जैन (एम० काम०, बी० ए३०), कु० संगीता जैन (मीन०) इंगरमीडिएट, श्रीमति मीन० बी० ए०, कु० संध्या जैन बी० ए०, कु० मीन० जैन (हाईस्कूल), कु० नूतन जैन एम० ए०, कु० जोती जैन द्वादश, कु० सोनू जैन बी० ए०, कु० रमा जैन एम० ए० {मनोविज्ञान} आदि ने सहायता की। प्रेस कापी के संशोधन में सुशीलचन्द जैन एम० एस-सी० (भौतिकी), प्रेमचन्द मित्तल एम० ए० (अर्थशास्त्र) ने कार्य में सहायता की। इस पुस्तक के अन्यान्य कार्य में कुमार पंकज जैन, सुदेश जैन, आदि ने सहायता की। प्रूफ संशोधन में डॉ श्रेयांस कुमार जैन (प्रवक्ता संस्कृत) राजीव जैन बी० एस-सी० Bio, सुरेन्द्र प्रसाद जैन, सुनील जैन आदि ने सहायता की।

उपरोक्त प्रकाशक, प्रतिलिपि लेखक, संशोधक, सहायता को हमारा धर्म वृद्धि, आशीर्वाद है। उनका उत्साह, निष्ठा, धर्ममें उत्तरोत्तर वृद्धि हो, ये ही मेरी वीर प्रभु से प्रार्थना है।

कनकनन्दी

आद्यमिताक्षर

प्रारभ्यते न खलु विघ्नं भयेन नीचैः

प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्नैः पुनः पुनरपि व्रोतहन्यमानाः ,

प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्पञ्चन्ति । 127 । ।

भर्तु हरि नीति शतक

अधम श्रेणी के लोग विघ्न के भय से कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, परन्तु विघ्न उपस्थित हो जाने पर उसे छोड़ देते हैं। उत्तम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ करने के बाद विघ्नों से बराबर सताये जाने पर भी वे कार्य को बीच ही में छोड़ते नहीं, उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं।

जो दृढ़ संकल्पहीन पुरुषार्थ विहिन, धैर्यहीन, आलस्य-परायण लोग होते हैं, वे भविष्यत् कालीन संभाव्य, काल्पनिक - प्रकृत विघ्नों के भय से साहसहीन होकर कोई कार्य ही प्रारम्भ नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्ति जीवन रूपी संग्राम में कभी भी विजयलक्ष्मी को वरण नहीं कर पाते। इस प्रकार के व्यक्ति निम्न श्रेणी के होते हैं। कुछ मध्यम श्रेणी के व्यक्ति कार्य तो प्रारम्भ कर लेते हैं; प्रतिकूल परिस्थिति, बाधा, विघ्नों के उपस्थित होने पर धैर्य, पुरुषार्थहीन होकर उस कर्म को मध्य में ही छोड़ देते हैं। जो अदम्य, धैर्य, साहस, कर्तव्य निष्ठ, पुरुषार्थवादी होते हैं, वे जिस कार्य को विचार-विमर्श करके प्रारम्भ करते हैं, उस कर्म को पूर्ण करके ही विराम लेते हैं। भले उस कार्य में अनेक बाधा, विघ्न, उपसर्ग परिषह आने पर भी वह अपने पुरुषार्थ को तब तक गतिशील रखता है जब तक आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्ण नहीं होता है। उसी प्रकार उत्तम श्रेणी के महान् पुरुषार्थवादी पुरुष से ही स्वपर के लिए देश, राष्ट्र, समाज की उन्नति के लिए वरदान स्वरूप होते हैं। नीतिकारों ने कहा है--

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।

दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति ॥

उद्योग शील पुरुषसिंह विजय लक्ष्मी को वरण करता है, परन्तु जो पुरुषार्थहीन का पुरुष होते हैं, वे केवल भाग्य का ही आश्रय लेकर बैठा रहता हैं।

अभी तक राजनैतिक, धार्मिक, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जिन्होंने उन्नति की है

वे केवल भाग्य के ऊपर आलम्बित नहीं हुये किन्तु अदम्य, साहस, धैर्य, पुरुषार्थ का सहारा लेकर आगे बढ़े हैं।

‘जिस बात को पूर्ण करने का निश्चय किया है उसे क्षणिक असफलता के कारण मत छोड़ो ।’

(शेक्सपीयर)

सम्पूर्ण वेदान्त दो शब्दों में सीमित है--‘सहो’ और ‘बचो’।

(एपिकटेस)

निरन्तर प्रयत्न और दृढ़ विश्वास से कठिनाइयाँ भी लजा जाती हैं और असम्भव भी सम्भव में परिवर्तित हो जाता है।

(जेरेमी कोलीयर)

साहस मत छोड़ो! आशावान् को सहायता देने के लिए सैकड़ों अवसर और क्रान्तियाँ आती हैं। शर्त यह है कि जुटे रहो! जितना व्यक्ति बुद्धिमान होगा उतना ही साहसी होगा। एक ही बात याद रखो-‘साहस बनाए रखो’!

तैमूर के बारे में कहते हैं कि जब शत्रुओं ने उसका पीछा न छोड़ा तो उसने किसी भग्न भवन में आश्रय लिया। एकान्त और विचारों में लीन उसकी दृष्टि एक चींटी पर पड़ी जो अनाज का एक दाना धसीटे लिये जा रही थी; उनहतर (69) प्रयत्नों के बाद भी उसने साहस न छोड़ा। दीवार के एक कोने से भारी दाने के साथ-साथ वह स्वयं भी गिर पड़ती। मगर सत्तरवीं (70) बार वह सफल होकर रही! तैमूर का टूटा हुआ साहस फिर बंध गया और उसे पुनः विजय का विश्वास हो गया।

यदि फ्रेंकलिन पीयर्स वस्तुतः स्थिर प्रकृति का न होता तो वह कदापि संयुक्त राष्ट्र का प्रेजिडेंट न होता। प्रारम्भ में वह वकील के रूप में असफल रहा और इससे उसके मन पर आधात पहुँचा। प्रायः ऐसे अवसर पर लोग साहस त्याग बैठते हैं; किन्तु उसने कहा, नौ सौ निन्यान्वे बार (999) असफल रहकर भी मैं फिर एक बार उसी कार्य को करने के लिए तत्पर हूँ। भला ऐसे महान् संकल्प के आगे कौन सी कठिनाई ठहर सकती है। ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं।

एक खान के स्वामी का अनुमान था कि खान में से सोना निकलेगा। उसने मील भर लम्बी सुरंग खुदवाई जिस पर एक लाख की रकम व्यय हो गई। डेढ़ साल की मेहनत भी रास न आई और काम बन्द कर देना पड़ा। तब किसी दूसरी कम्पनी ने वही काम हाथ में लिया और सुरंग की गज भर आगे खुदाई करने पर स्वर्ण धातु हाथ लग गई। स्मरण रखो कि सम्भव है, जीवन का सोना भी गज भर आगे ही पड़ा हुआ हो।

जाँन फिच बड़ा निर्धन व्यक्ति था, मित्र, परिचित भी कम ही थे, लोग उपहास उड़ाते और उसे विक्षिप्त मानते। बड़े लोग भी उसे निरूल्साहित ही करते, धक्के देते। किन्तु फिच अपने मित्रों के साथ लगा रहा और एक दिन उसने वाष्पीय नौका

डेलावेयर में चलाकर दिखा दी, जो प्रवाह के साथ आठ मील और विपरीत दिशा में छह मील प्रति घण्टे की गति से दौड़ सकती थी।

अपने समय का सुविख्यात नीतिज्ञवान मोल्के छियासठ वर्ष अध्ययन में बिताकर कार्य क्षेत्र में उत्तरा। उस आयु में भी मुख्याधिकारी होने पर उसने सैडौवा पर आस्ट्रिया के अधिकार को निर्मूल करके जर्मनी से निकाल दिया। चार साल बाद ही इससे बड़े उत्तरदायित्व के लिए तत्पर रहा, जबकि उसने फ्रांस को ऐसा आधात पहुँचाया कि यूरोप का मानचित्र ही बदल गया। इक्यावन वर्ष की संघर्षमय अवधि के बाद उसके हिस्से फील्ड मार्शल की पदवी आई। यदि लुई नेपोलियन जैसा व्यक्ति उसके आधीन रहा तो यह उसके संघर्षमय जीवन का परिणाम था।

“ विचार शीलता ऐसी शक्ति है जिससे मानवीय आँखे चुँधिया जाती हैं। निरन्तर प्रयत्न शीलता का दूसरा नाम है-पराजयों का मुँह मोड़ते हुए अंगसर रहना। सफलता और असफलता में इतना सूक्ष्म अन्तर है कि कई बार मनुष्य को ज्ञात ही नहीं होता कि कब उसने इन दोनों की मध्यवर्ती रेखा को स्पर्श किया। मोती इस प्रतीक्षा में रहता है कि गोताखोर कब तक और दुबकी मारे तो उसके हाथ में आऊँ किन्तु मात्र एक और गोते का साहस न करके वह स्पंज ही उठाकर ले आता है।”

रिचर्ड सी० ट्रेंच का कथन है, “सफल बनो! तैयार रहो! कमर कस लो कि तुम्हारी बारी आएगी, तुम मार्ग में पड़े ही नहीं रहोगे, निर्माताओं को तुम्हारी आवश्यकता पड़ेगी।”

धन, पदवी और प्रभाव ये बातें सोहस और धैर्य के आगे नहीं टिक सकती।

चाहे कोई भी काम आरम्भ करो, उसमें दृढ़ संकल्प से निरत रहो और यही कहो कि मैं यह काम अवश्य करूँगा। ध्येय यह हो—‘धून में दृढ़ता’। ये शब्द कान में ऐसे पड़े जैसे युद्ध में धोड़े के कान में बिगुल की ध्वनि प्रभावित होती है।

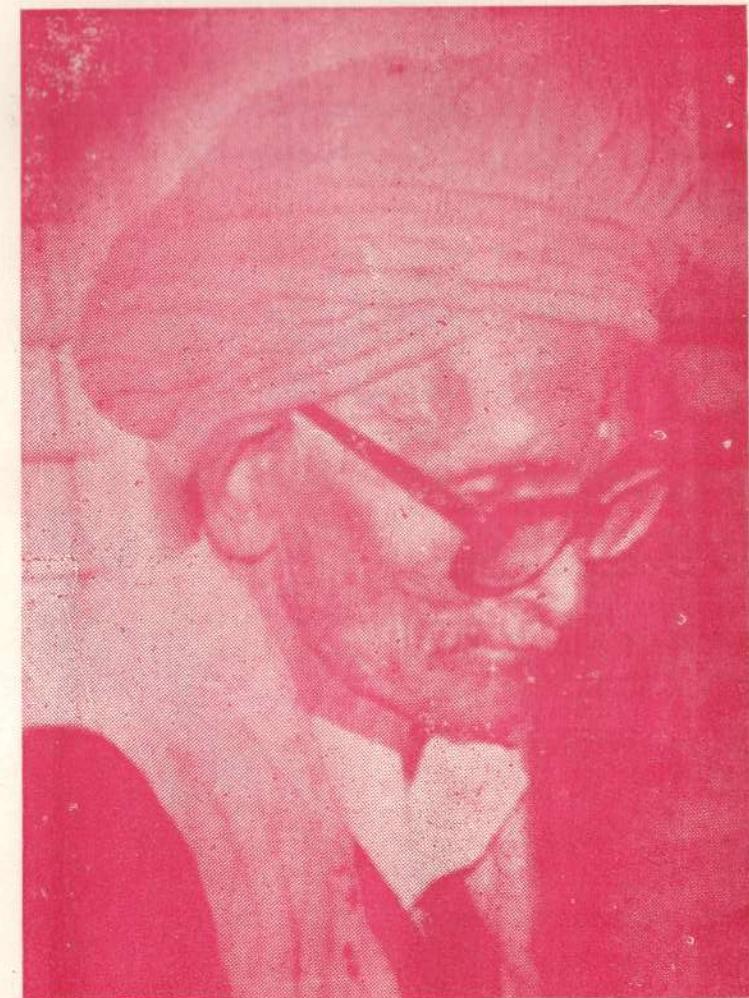
मिल्टन देश की रक्षार्थ निरन्तर लिखता रहा और इससे उसके नयनों की रोशनी जाती रही। उस समय उसने कहा, “मैं ईश्वर-लीला के विरोध में कोई शिकायत नहीं करता। मन में ऐसी कोई आशा नहीं रखता, वस सब कुछ सहन करता हुआ अग्रसर होता हूँ।” और सम्मुच वह आगे बढ़ता गया, अन्धा होने के बावजूद उसने अमर साहित्य की रचना की।

(साभार उन्नति कैसे करें? लेठ स्वेट मार्टन)

‘भाग्य एवं पुरुषार्थ’ एक दृष्टि से एक ही विषय के दो पहलू हैं क्योंकि वर्तमान का ही पुरुषार्थ भविष्यत् का भाग्य है। वर्तमान का पुरुषार्थ भी पूर्व भाग्य से कुछ अंश तक प्रेरित भी होता है। जैसे— बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से बीज की उत्पत्ति होती हैउसी प्रकार पुरुषार्थ से भाग्य तथा भाग्य से पुरुषार्थ की उत्पत्ति होती है।

कभी-कभी प्रचण्ड कर्म शक्ति के सामने सामान्य जीव का पुरुषार्थ निष्प्रभ

श्री गुलाब चन्द जी पाटोदी



श्री प्रेमचन्द, राजमल एवं मदनलाल पाटोदी
(रोटेदा वाले) कोटा (राज.) द्वारा उनके पूज्य पिता
की पुण्य स्मृति में प्रकाशित

होता है तो भी प्रबल पुरुषार्थ से महान् शक्तिशाली महान् पुरुष कर्म की शक्ति को भी पराभूत कर देते हैं। जैसे— अग्नि से बीज को भस्म करने के पश्चात् वह भस्मभूत बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार प्रबल पुरुषार्थ रूपी अग्नि से भाग्य रूपी बीज को पूर्ण रूप से भस्म किया जा सकता है। अतः सापेक्ष दृष्टि से देखने पर पुरुषार्थ भाग्य से श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करता है। अतः भाग्य को जाग्रत् करने के लिए तथा भाग्य पर विजय प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थियों को अपने प्रबल पुरुषार्थ से भाग्य को जगाना चाहिए। उपनिषद् में भी कहा है--

आस्ते भग आसीन् स्योर्ध्वं तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निषय मानस्य चराति चरतो भगः । ।

(चरवैति चरवैति)

पुरुषार्थीहीन होकर बैठे रहने से भाग्य भी बैठा रहता है। पुरुषार्थ से खड़ा होने से भाग्य भी खड़ा हो जाता है। पुरुष, पुरुषार्थीहीन होकर सोने से भाग्य भी सो जाता है, प्रबल पुरुषार्थ से आगे बढ़ने से भाग्य भी आगे बढ़ता है। इसीलिए है पुरुषार्थी! आगे बढ़ते चलो, बढ़ते चलो!

कलिः श्यानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन - । ।

चरवैति चरवै ति

पुरुष शयन करने से उसके लिए वह समय कलियुग होता है अर्थात् पुरुषार्थ नहीं करना, कलियुग का आव्यान करना है। पुरुषार्थ के लिए जाग्रत् होने पर उसके लिए वह काल द्वापर युग हो जाता है। कार्य करने के लिए खड़े होने पर वह काल उसके लिए त्रीता युग हो जाता है, कार्य करने के लिए आगे बढ़ने से वह काल सत्ययुग हो जाता है। इसलिए है पुरुषार्थी! सत्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ते ही चलो। बढ़ते ही चलो।

--उपाध्याय कनकनंदी

रथिल
एक ही
। यहाँ
तानंत
ज्ञान,
विना
, विना
नददेव,
त होते

सलिये

वैभव,
ा-पिता
द्व, वर्ण
क हाथ
स्था मे
ता है।
उपरोक्त
चूंखाल
वह ही
मन का
त्तार यह

केन्द्रिय,
में पुनः
श्रोते हैं।
फर (1)

अध्याय १

भाग्य (दैव) एवम् पुरुषार्थ

विश्व में विभिन्न वैचित्र्यपूर्ण जीव दृष्टिगोचर होते हैं। द्रव्य दृष्टि से अखिल जीव जगत् सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोदिया (वायरस) से लेकर पूर्ण विकसित मनुष्य तक ही नहीं परन्तु अनंत ज्ञान सम्पन्न अरिहन्त सिद्ध, भगवान् भी एक समान हैं। यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि द्रव्य-अपेक्षा तथा जातीय-अपेक्षा सम्पूर्ण अनन्तानंत जीव एक समान होने पर भी उसमें आकार-प्रकार, शक्ति, बुद्धि, ज्ञान, आचार-विचार में जो विभिन्नता परिलक्षित होती है उसका कारण क्या है? बिना कारण से क्या उनमें यह वैचित्र्यपूर्ण अन्तर हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं, बिना विभिन्न प्रकार कारणों से विभिन्न कार्य होना असम्भव है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव, नियमसार में संसारी जीव में जो विभिन्न प्रकार आचार-विचार से परिलक्षित होते हैं उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि--

“‘णाणा जीवा णाणा कम्पं णाणाविहं स्ये लङ्घी’” |

अनेक प्रकार के जीव हैं एवं उनके अनेक प्रकार के कर्म या दैव हैं। इसलिये उनके स्वस्थदैवानुसार उनकी लिंगभिन्न-भिन्न प्रकार होती है।

मनुष्य गति एक होने पर भी प्रत्येक मनुष्य का आकार, प्रकार, बुद्धि, वैभव, स्वास्थ्य अलग-अलग होता है, इतना ही नहीं, एक ही परिवार में एक ही माता-पिता से उत्पन्न होने वाली अनेक संतान के शरीर, आरोग्य, आचार-विचार, बुद्धि, वर्ण प्रायः वैषम्य रहते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि एक ही व्यक्ति का एक हाथ व एक अवयव सबल होता है तो अन्य अवयव दुर्बल भी होता है । बाल्यावस्था में कोई जड़मति, भोंदू रहता है तो वही युवावस्था में तीक्ष्ण बुद्धिशाली हो जाता है । पुनः वृद्धावस्था में स्मरण-शक्ति से रहित हो जाता है । अन्य कोई व्यक्ति उपरोक्त व्यक्ति से विपरीत भी हो सकता है । एक व्यक्ति बाल्यावस्था में उदण्ड, उच्छृंखल होता है तो वही किशोर या युवावस्था में गम्भीर धमत्ता हो जाता है । वह ही वृद्धावस्था में विपरीत परिणमन भी कर लेता है । उपरोक्त वैचित्र्यपूर्ण परिणमन का कारण क्या है? ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है । उसका सटीक व संक्षिप्त उत्तर यह है कि उसका “दैव एवं पूरुषार्थ” ही मूल कारण है ।

गति की अपेक्षा तिर्यक गति एक ही गति है उसमें भी फिर एकेन्द्रिय, द्विन्द्रियादि जाति की अपेक्षा पाँच उत्तर भेद हो जाते हैं। एकेन्द्रिय जाति में पनः साधरण एवं प्रत्येक उपभेद हैं। उनमें फिर अनेक अवान्तर उपभेद भी होते हैं। उदाहरण के तौर पर प्रत्येक एकेन्द्रिय जीव को ग्रहण करिये। उनमें फिर (1)

वनस्पतिकार्यिक, (2) पृथिवीकार्यिक, (3) जलकार्यिक, (4) वायुकार्यिक, (5) अग्निकार्यिक रूप से पाँच प्रभेद हैं। वनस्पतिकार्यिक की दस लाख (10,00,000) कुल कोटि योनि हैं। योनि की अपेक्षा वनस्पतिकार्यिक के दस लाख (10,00,000) कोटि पुनः अवान्तर भेद हो जाते हैं। उनमें से पुनः उदाहरण के तीर पर आम तथा आमवृक्ष को लीजिए। उसमें भी अनेक भेद, प्रभेद हैं यथा—लंगड़ा, दशहरी, सीपिया, बीजू, बारहमासी, तोतिया, शुकूल आदि। एक ही पीपल (पीपर), पेड़ के प्रत्येक पत्र का आकार-प्रकार प्रायः एक प्रकार नहीं होता है, चिन्न-चिन्न होता है। उपरोक्त वैचित्र्यपूर्ण विभिन्नता का कारण अपना-अपना व्ययोग्यपूर्ण उपार्जित देव है।

यह अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है कि कभी कभी इच्छित अभिलाषित कार्य के प्रियद्व अनिच्छित, अनभिलाषित कार्य हो जाता है। जैसे नीरोग, स्वस्थ रहने के इच्छुक एवं योग्य आहार-विहार करने वाले को भी रोग हठात् आ घेरता है। प्रायः कोई भी रोगी दुःखी, निर्धन होने के लिये अभिलाषा नहीं करते हैं परन्तु अधिकांश मनुष्य रोगी, दुःखी एवं निर्धन होते हैं। इसका कारण पूर्व उपार्जित प्रबल दैविकशक्ति है। जैनाचार्यों ने कहा भी है--

" अबुद्धि पूर्वपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः "

अबुद्धि पूर्वक सम्पादित कार्य की अपेक्षा से इष्ट-अनिष्ट कार्य अपने पूर्वोपार्जित दैव से हुए हैं, ऐसा जानना चाहिये।

कुछ विशिष्ट प्रबल शक्ति सम्पन्न दैवयोग, से कुछ अनिच्छित कार्य भी हो जाता है। उस समय में प्रबल, प्रचण्ड दैवशक्ति के सामने पुरुषार्थ की शक्ति अकिञ्चित्क कर हो जाती है।

कर्म्मं चिण्ठति सवसा तस्मुदयमिमि उ परवसो होन्ति ।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलस परवसो तत्तो ॥

(विशेषावश्यक)

कर्म व दैव को सम्पादन करने में जीव स्वतन्त्र है। कर्म के फल भोगने पर जीव स्वतन्त्र नहीं है बल्कि कर्माधीन है। जैसे—वृक्ष आरोहण, जीव, स्वतन्त्र स्वेच्छापूर्वक करता है परन्तु दैवात् असावधानी से पेड़ से फिसल कर गिरते समय वह परतन्त्र हो जाता है अर्थात् उस समय में उसका पुरुषार्थ विशेषकर कार्यकर नहीं हो पाता है। गीता में भी कर्मयोगी नारायण श्रीकृष्ण इस कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये धनुर्धर अर्जुन को निम्न प्रकार उद्बोधन करते हैं--

" कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन " ।

कर्म में ही तुझे अधिकार है उससे उत्पन्न होने वाले अनेक फलों में कदापि नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास भी हिन्दी साहित्य के अमर कृति रामचरितमानस में कहते हैं कि--

विश्व प्रधान कर्मकरि राखा ।
जो जस करहि फलहुँ तैसे चाखा ॥ ॥

पुराण प्रसिद्ध, ऐतिहासिक प्रसिद्ध अनेक महापुरुष हुये हैं जिनका जन्म गरीब, अशिक्षित परिवार में हुआ है परन्तु वे अपने अदम्यसाहस, निष्ठा एवं पुरुषार्थ के माध्यम से महान् बने हैं। महान् बनने में दैव की अपेक्षा अपने पुरुषार्थ का योगदान अधिक रहा है। जैनाचार्यों ने कहा भी है--

" बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् । " "

जो कार्य बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं उस अपेक्षा से इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से हुये हैं ऐसा जानना चाहिये।

जो कार्य अनुकूल हो या प्रतिकूल हो यदि वह अतर्कितोपस्थित है अर्थात् उस कार्य को करने का विचार रहित (अबुद्धिपूर्वक) है तो ऐसी स्थिति में वहाँ पुरुषार्थ की गोणता एवं भाग्य की प्रधानता मानी जायेगी अर्थात् इस स्थिति में जो कार्य होता है, उसको भाग्यकृत कहेंगे। बुद्धिपूर्वक जो भी कार्य है और उसमें जो सफलता मिलती है, उस समय वहाँ पुरुषार्थ प्रधान एवं दैव गौण माना जाता है। इस स्थिति में जो कार्य होता है उसकी पुरुषार्थ से हुआ कहेंगे। इस तरह अबुद्धिपूर्वक जीव को जो दुःखादिक होते हैं वे दैव की प्रधानता से होते हैं तथा बुद्धिपूर्वक जो लाभ-अलाभ आदि जीव को होते हैं, पुरुषार्थ की प्रधानता से होते हैं। इस प्रकार दोनों की प्रधानता एवं गौणता से ही कार्य बनता है। अनुकूल दैव और अनुकूल पुरुषार्थ, प्रतिकूल दैव और प्रतिकूल पुरुषार्थ होने पर भी एक मुख्य और एक गौण रहता है।

अध्याय २

भाग्य और पुरुषार्थ में संघर्ष

भरत क्षेत्रस्थ रत्न संचयपुर का राजा श्रीकंठ विद्याधर तथा पटरानी श्रीमति एक दिन पूजा करके मन्दिर से लौट रहे थे। रास्ते में दिग्म्बर जैन मन्दिर के दर्शन कर और मुनि के उपदेश सुनकर तथा व्रत-प्रतिज्ञा लेकर घर पर लौटे।

राजा ने पूर्वोपार्जित दुर्भाग्योदय से प्रतिज्ञा छोड़कर धर्म को छोड़ दिया, मिथ्यादृष्टि होकर अहिंसामय जैन धर्म तथा आत्म साधक जैन मुनि की निन्दा करने लगा। एक दिन राजा 700 वीरों के साथ वन क्रीड़ा के लिये गये थे। वहाँ दिग्म्बर मुनि को देखकर मुनि को अपशकुन मानकर मुनि को कोढ़ी-कोढ़ी (कुष्ठी-कुष्ठी) कहकर समुद्र में डाल दिया, उनके कार्य की 700 वीरों ने भी अनुमोदना की। तब भी आत्मसाधक मुनि ने ध्यान नहीं छोड़ा। तब राजा दयावशात् सेवक को निकालने के लिये कहकर वापिस आ गये।

कुछ समय पश्चात् एक दिन राजा पुनः उस तरफ वन क्रीड़ा के लिये गये। मुनि को देखकर मुनि की निन्दा करके “मारो सिर काटो” ऐसे कहकर तलवार उठाये थे कि दया से मुनि को छोड़कर घर वापिस आ गये।

एक दिन राजा ने मुनि के उपसर्ग के बारे में रानी को कहा। रानी उस घटना को सुनकर धर्मात्मा एवं दयातु होने के कारण अपने कर्म को धिक्कार करने लगी, कुछ समयानन्तर रानी दुःखित होकर पलंग पर लैट गई। जब राजा को दासी से रानी की उदासीनता के बारे में पता चला तब राजा रानी के पास जाकर बोला आपको किसने कष्ट दिया? मुझे बताइये इसका प्रतिकार मैं शीघ्रताशीघ्र करूँगा। तब भी रानी राजा से कुछ नहीं बोली। एक दासी ने कहा कि रानी की उदासीनता का कारण ग्रहण किया हुआ व्रत (प्रतिज्ञा) त्याग एवं मुनि के ऊपर उपसर्ग आदि है।

राजा दासी की बात सुनकर दुःखित होकर, पश्चाताप करके एवं स्वनिन्दा करके रानी को सांत्वना दी। रानी के उपदेश एवं प्रेरणानुसार राजा एक दिग्म्बर मुनि के पास जाकर, अपना पूर्वकृत समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। मुनीश्वर ने प्रायश्चित फल स्वरूप सम्यक्त्व धारण करना, त्याग की हुई प्रतिज्ञा धारण करना एवं सिद्धचक्र विधि-विधान करने के लिये कहा। राजा ने प्रायश्चित स्वीकार करके 8 वर्ष में सिद्धचक्र विधान पूर्ण करके उद्यापन किया। अन्त में संन्यास धारण करके समाधिमरण करके देव हुआ। रानी भी धर्मात्मा होने के कारण उस स्वर्ग में देव हुयी।

स्वर्ग से च्युत होकर राजा के जीव ने अंग देश के चंपापुरी नगरी का राजा “अरिदमन” की रानी “कुंदप्रभा” के गर्भ में जन्म ग्रहण किया। वह लड़का बहुत सुन्दर, सर्व गुण सम्पन्न एवं पुण्यात्मा था। उसका नाम श्रीपाल रखा गया।

पुत्र श्रीपाल के युवक होने के पश्चात् राजा श्री अरिदमन पूत्र को योग्य, मुणी, प्रजावत्सल उदार-चेत्ता मानकर पुत्र को राज्य सौंप कर, मुनि होकर, समाधि पूर्वक मरण करके स्वर्ग पथारे। राजा श्रीपाल प्रजा को पुत्र के समान न्यायनीति से पालन करने लगे।

पूर्व जन्म में 700 वीरों सहित राजा ने मुनि महाराज को कोढ़ी-कोढ़ी कहकर निन्दा की थी। उसके फलस्वरूप राज्य-अवस्था में अत्यन्त सुन्दर, बलिष्ठ, स्वस्थ अवस्था में राजा को तथा 700 वीरों को गलित कुष्ठ रोग हो गया जिससे सम्पूर्ण शरीर गल-गल कर खांडित होने लगा कुष्ठियों के शरीर की दुर्गन्ध से प्रजा अत्यन्त दुःखी-बेचैन होने लगी, प्रजा नगर छोड़कर अन्य स्थान में भागने लगी। नगर दौरे-धीरे प्रजा शून्य होने लगा। इस परिस्थिति को देखकर कुछ ज्ञानी वृद्धलोगों ने श्रीपाल के काका वीरदमन को नगर की परिस्थिति से अवगत कराया। श्रीपाल के काका ने प्रजा के कष्टों से श्रीपाल को अवगत कराया। प्रजा-वत्सल श्रीपाल 700 कुष्ठियों सहित चम्पापुरी नगर को त्याग करके नगर से बहुत दूर एक वन में रहने लगे। राजा श्रीपाल ने अपने काका को राज्यभार समर्पण करके नगर का त्याग कर दिया।

मालवा देश के उज्जैयिनी नगरी के राजा पहुपपाल की एक अत्यन्त सर्वगुण सम्पन्न शीलवती, विदूषी, धर्मात्मा, सुन्दरी, नवयुवती कन्या मैनासुन्दरी थी। एक दिन राजा मैनासुन्दरी सो पूछते हैं कि तुम किसके भाग्य पर जीवनयापन कर रही हो। मैनासुन्दरी पितृभक्त होते हुए भी स्वपुरुषार्थ एवं स्वभाग्य पर विश्वास रखने वाली थी। इसीलिए मैनासुन्दरी बोली मैं स्वउपार्जित पुण्य कर्म से जीवनयापन कर रही हूँ। इससे राजा ने क्रोधित होकर कन्या को कष्ट देने के लिये एक अयोग्य, रोगी, दरिद्र वर के साथ विवाह करने का विचार किया। उसने शोध करके कुष्ठ रोग से पीड़ित श्रीपाल के साथ महान् सुन्दरी, सुकुमारी मैनासुन्दरी का विवाह कर दिया।

परन्तु स्वपुरुषार्थ एवं भाग्य पर निर्भर करने वाली मैनासुन्दरी कुष्ठी श्रीपाल को भारतीय सती नारी के समान पतिदेव मानकर सेवा करने लगी। विवाहानंतर वे पुनः उद्यान में चले गये। वहाँ पर मैनासुन्दरी ने विधिपूर्वक अन्तःकरण से भक्ति-भावनापूर्वक सिद्धचक्र विधान मण्डल पूजा की। जिनमन्दिर में अभिषेक करके उस पवित्र गन्धोदक को 700 कुष्ठियों सहित श्रीपाल को सम्पूर्ण शरीर में लगाने के लिये देने लगी। इस प्रकार 8 दिन तक सिद्धचक्र पूजा मण्डल विधान (जिस पूजा में अनंतानंत नित्य निरंजन, सिद्ध परमेष्ठी भगवान की पूजा की जाती है) प्रत्येक दिन सम्पूर्ण कुष्ठ रोगियों को गन्धोदक शरीर में लगाने के लिये देती रही। आठवें दिन महा भयंकर गलित कुष्ठ रोग पूर्ण रूप से नष्ट होकर श्रीपाल सहित 700 कुष्ठ रोगी पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त हुये।

रोग नष्ट होने के उपरांत मैनासुन्दरी के माता-पिता ने अत्यन्त आनन्दित होकर मैनासुन्दरी तथा श्रीपाल को अपने राजमहल में संस्मान बुलाया। कुछ दिन श्रीपाल ने संसुराल में रहकर पुरुषार्थ से धन सम्पत्ति उपार्जन करने के लिये द्विपान्तर को वाणिज्य के लिये प्रयाण किया। एक दिन श्रीपाल समुद्र तटस्थ भृगुक्ष्य नामक नगर के उपरवान में शयन किये हुये थे। उस समय कुछ यात्री श्रीपाल को उठाकर समुद्र के तट पर ले गये। धवल सेठ नामक एक समुद्री व्यापारी, जो कि पांच सौ जहाजों का मालिक था, आंधी के कारण उसके जहाज खाड़ी में फंस गये थे। श्रीपाल को समस्त वृत्तान्त से धवलसेठ ने अवगत कराया। श्रीपाल ने उसके दुःख से दुःखित होकर उनके उपकार के लिये "णमोकार मंत्र" स्मरण करके जहाजों को गतिशील बना दिया। इससे धवल सेठ संतुष्ट हो गये तथा श्रीपाल को साझी बनाकर अपने साथ व्यापार के लिये ले चला। हंसद्वीप में श्रीपाल का "रथणमंजूषा" नामक राजपुत्री के साथ विवाह हुआ। कुछ दिन वहाँ सुखपूर्वक बिताकर व्यापार के लिये पुनः चल दिये। मार्ग में सेठ धवल, रथणमंजूषा की सुन्दरता से मुग्ध होकर उसके साथ रमन करने के लिये बड़यन्त्र करके श्रीपाल को समुद्र में गिरा दिया। पाठक वर्ग को मालूम है कि पूर्व भव में श्रीपाल ने एक आत्मसाधक शान्त प्रिय-दिग्म्बर मुनि महाराज को द्वेषवशः समुद्र में डाल दिया था। उस दुर्भाग्य (कर्म) के फलस्वरूप वर्तमान भव में श्रीपाल को भी समुद्र में गिरना पड़ा। इंगिलिश में एक नीति वाक्य है-- "As you sow, so you ripe" "अर्थात् जैसा बोआंगे वैसा पाओगे"

श्रीपाल को समुद्र में गिराने के बाद, धवल सेठ ने सती रथणमंजूषा के साथ बलात्कार करने के लिये प्रयत्न किया, तब शीध जल देवता ने प्रकट होकर सेठ को बाँधकर गदा से पीटा एवं भर्त्सना की। जहाज के सब लोग सेठ की दुरावस्था को देखते रहे परन्तु दण्ड देने वाले को कोई भी देख नहीं पाए। सब लोगों ने भय से सती से सेठ एवं अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की तब सती रथणमंजूषा ने भगवान् को स्मरण करके सेठ को क्षमा करने के लिए प्रार्थना की। जल देवता ने कहा-- "हे सती! मैं आपके सतीत्व से प्रभावित होकर यह सर्वकृत किया है। डरी मत, चिन्ता त्याग करिये। धर्मात्मा को कभी भी कोई भी कष्ट नहीं दे सकता है। धर्म, पुण्य कर्म एवं दैविक शक्ति उसकी रक्षा करती है। पापी कभी भी सुखी नहीं रहता है। उसकी रक्षा कोई नहीं करता और उसकी सुरक्षा हो भी नहीं सकती। कुछ ही दिनों में आपके पति देव श्रीपाल मिलेंगे एवं वे महाराजा बनेंगे और आप रानी बनेंगी। जब तक हम हैं, आपको कोई भी कष्ट नहीं दे सकता है।" ऐसा कहकर जल देवता अन्तर्धीन हो गये। रथणमंजूषा अपने सतीत्व की रक्षा से एवं पति की खबर सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुई। सेठ ने अपनी भूल स्वीकार कर क्षमा याचना की एवं रथणमंजूषा ने सेठ को पिता समान मानकर क्षमा की।

श्रीपाल ने समुद्र में गिरने के बाद सेठ के कपट व्यवहार को जान लिया तो भी श्रीपाल सोचता है कि सेठ केवल गौण निमित्त है परन्तु मैंने जो पूर्व जन्म में पाप किया था उसका फल यह मिला है। इसी प्रकार विचार कर मन में समता एवं धैर्य को धारण कर "णमोकार मंत्र" स्मरण करके समुद्र पार करने का प्रयत्न किया।

एक काष्ठ पटरी मिलने से उसका अवलम्बन लेकर समुद्र पार करके कुंकुम द्वीप में पहुँचा। वहाँ का राजा सतराज था। उसकी रानी बनमाला थी और कन्या गुणमाला थी। राजा ने अवधि ज्ञान सम्पन्न मुनि महाराज की भविष्यवाणी के अनुसार श्रीपाल के साथ अपनी प्रिय पुत्री का विवाह कर दिया।

धवल सेठ व्यापार करते-करते एक दिन व्यापार के लिए कुंकुम द्वीप के राजदरबार में जा पहुँचा। राज दरबार में श्रीपाल को राजपाट में बैठा देखकर पूर्व स्वदुष्कृत स्मरण करके अत्यन्त भयभीत हो गया। उसने श्रीपाल को मारने की इच्छा से एक घडयन्त्र रखा। वह सेठ राजदरबार से समुद्र तट पर गये जहाँ पर अपना जहाज था। वहाँ से भांडों को समस्त वृत्तान्त कहकर घडयन्त्र रचकर दरबार में नृत्य करने के लिए भेज दिया। उन भांड लोगों ने नृत्य करके राजा को संतुष्ट कर दिया। श्रीपाल जब भांडों को ताम्बूल देने लगे तब सब भांड उन्हीं को धेरकर कोई अपना बेटा, कोई अपना भाई, कोई अपना स्वामी, कोई अपना देवर कहने लगे। राजा ने इसका कारण पूछा, पूछने पर भांडों ने कहा-- हम एक जहाज में आ रहे थे तब समुद्र में तूफान के कारण जहाज टूट गया। हम लोग यैन-केन-प्रकारेण से मिल गए किन्तु दो पुत्र नहीं मिले थे, उनमें से एक छोटा पुत्र आपके यहाँ मिल गया है।"

राजा के पूछने पर श्रीपाल ने विचार किया-- "मेरे कोई पूर्वकृत (दुर्भाग्य) पाप का उदय है। मैं विदेशी, अकेला व्यक्ति हूँ, यदि मैं सत्य बात भी कहूँगा तो भी कोई नहीं मानेगा परन्तु, मेरा पूर्ण विश्वास है कि 'सत्यमेव जयते' - सत्य की ही विजय होती है। इस प्रकार विचार करके राजा से कहा-- इनकी बात सत्य है अर्थात् मैं भांड का पुत्र हूँ राजा ने यह सुनकर क्रोधित हो, शूली दण्ड की सजा देने की आज्ञा दी।

पाठक वर्ग ने कथा के प्रारम्भ में पढ़ा था कि पूर्व भव में श्रीपाल ने अहिंसा के अवतार दिग्म्बर निर्दोष साधु को भांड-भांड कहकर अपमान किया था। इसलिये उस पूर्वोपार्जित दुष्कर्म के प्रतिफल से राजा श्रीपाल को भांड लोग ने भरी राजसभा में भांड कहकर सम्बोधित किया। नीतिकारों ने कहा है-- "जैसी करनी वैसी भरनी"। जैसे गोल गुम्बज में कोई व्यक्ति गाली देता है तो वही गाली प्रतिध्वनित होकर उसके पास आती है। यदि कोई भद्र शब्दों का उच्चा करता है तो वह शब्द प्रतिध्वनित होकर पुनः उसके पास आ जाता है। इसी प्रकार जीव जो सूक्ष्म-स्थूल, शुभ-अशुभ कार्य करता है, उसका प्रतिफल आज नहीं तो कल निश्चित रूप से प्राप्त होगा।

श्रीपाल को चाण्डाल, शूली दण्ड देने के लिये ले जा रहे थे। जाते समय श्रीपाल सोच रहे थे यदि मैं चाहूँ तो सबको अकेला मार सकता हूँ। परन्तु इससे मेरी कुलीनता प्रकट नहीं हो सकती, जो पूर्वकृत दुष्कर्म उदय में आया है उसको समता भाव से सहन करना चाहिये। समता भाव रखने से मानसिक-शांति मिलती है तथा पूर्वकृत कर्म नष्ट होने से सुख मिलता है। पाठकवर्ग, पहले ही आप लोगों ने इस कथा में पढ़ा होगा कि पूर्व भव में श्रीपाल ने एक शांत, दांत, निर्दोषी,

दिग्म्बर साधु को मारने के लिए तलवार उठायी थी इसीलिए वर्तमान में उसको शुली दण्ड की सजा मिली।

शूली की खबर सुनते ही गुणमाला, दुःखित होकर रोते-रोते दौड़कर श्रीपाल के पास पहुँच गयी। गुणमाला के, स्वामी से उनका यथार्थ परिचय चाहने पर श्रीपाल बोले-दुःखी मत हो और समता धारण करो, समुद्र के किनारे पर जाकर रयणमंजूषा से मेरा यथार्थ परिचय पूछो जिसको मैंने अपना परिचय अनेकों बार दिया है। गुणमाला ‘रयणमंजूषा-रयणमंजूषा’ पुकारती-पुकारती दुःख, निराशा के साथ-साथ एक क्षीण रूपी प्रकाश लेकर समुद्र के तट पर रयणमंजूषा से जाकर मिली। श्रीपाल के बारे में पूछने पर रयणमंजूषा ने यथार्थ समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। रयणमंजूषा धीर, मधुर भाषा में बोली-हे बहिन! शोक मत करो जिसके बारे में आप पूछ रही हैं, वह सामान्य मनुष्य नहीं है, चरम शरीरी, तद्भव मोक्षगामी, उत्तम क्षत्रिय वंशी राजकुमार है, उनको कोई मार नहीं सकता है। वे महान्, अद्वितीय, शक्तिशाली कोटिभृत श्रीपाल हैं। कोटिभृत का अर्थ है जो अकेला व्यक्ति 1 करोड़ व्यक्ति से युद्ध कर सकता है। इन्ती जिसमें शक्ति होती है उसे कोटिभृत कहते हैं। चिन्ता छोड़ो “सत्यमेव जयते”। चलो राज दरबार में जाकर राजा से श्रीपाल का समस्त वृत्तान्त कहो। राजा ने उनसे समस्त वृत्तान्त सुनकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक श्रीपाल से क्षमा प्रार्थना की। तब श्रीपाल ने कहा-हे धर्म तात्! इसमें आपका कोई दोष नहीं है यह निश्चित ही पूर्वोपार्जित दुष्कर्म का फल है। परन्तु एक विशेष बात आपको कहता हूँ सो सुनिये। आप राजा हैं, न्याय करना आपका परम कर्त्तव्य है। इसलिए आपका बिना विचारे अविवेक से कोई भी काम करना योग्य नहीं है। राजा एकदम लज्जित होकर सम्मानपूर्वक हाथी पर बैठाकर श्रीपाल को राजमहल में ले गया। पुण्य-कर्म और सतीत्व के कारण रयणमंजूषा, गुणमाला एवं श्रीपाल का पुनः मिलन हुआ। दोनों रानी एवं श्रीपाल सतराज के राजमहल में सुख से रहने लगे।

पाठक वृंद, पहले आप लोग इस कथा के प्रारम्भ में पढ़े थे कि श्रीपाल ने पूर्व भव में दयालु दिग्म्बर मुनिश्वर को मारने के लिए तलवार उठायी थी परन्तु उनके परिणामों में परिवर्तन हुआ। उन्होंने मुनिराज को निर्दोषी जानकर दया से तलवार पीछे छोड़ ली। मुनि महाराज को नहीं मारने के कारण शूली दण्ड मिला था तो भी शूली दण्ड नहीं हुआ।

श्रीपाल जैसे निर्दोष व्यक्ति को ध्वल सेठ ने विभिन्न प्रकार के कष्ट दिये थे। उसके फलस्वरूप राजा, सेठ को दण्ड देने के लिए उसको लाने के लिए दूत भेजे। दूतों ने मार पीट करके एवं घसीट-घसीट कर ध्वल सेठ को राजसभा में उपस्थित किया। राजा ने क्रोधित होकर, श्रीपाल से सेठ को किस प्रकार का दण्ड दिया जाय, पूछा। श्रीपाल कर्म की विचित्रता जानकर नम्र भाव से राजा से बोला-हे राजन्। ध्वल सेठ मेरा धर्मपिता है। वे मुझे कष्ट देते हैं। परन्तु उन अनेक कष्टों से ही मेरे अनेक इष्ट सिद्ध हुये हैं। उनके कारण ही गुणमाला के साथ मेरा विवाह हुआ। अतः वे मेरे उपकारी हैं। इसलिए आप दया करके उन्हें छोड़ दीजिए। राजा ने श्रीपाल के वचनानुसार सेठ को छोड़ दिया।

पाप का घड़ा फूटा-ध्वल सेठ को अपने द्वारा किये हुए, श्रीपाल के प्रति कुकृत्य का, प्रतिबिम्ब हृदय पटल में होने लगा। उसके साथ-साथ श्रीपाल के साथ किया गया अपकार और श्रीपाल की उदार प्रवृत्ति के कारण उसके मन में संर्घण्यमय दृन्द्ध प्रवृत्ति जागृत हो गई। मन ही मन श्रीपाल के प्रति किये गये कृत्यन्ता के व्यवहार ने उसके मन को अत्यन्त दोलायमान किया। धोर आत्मगलानि, मानसिक दृन्द्ध, विक्षोभ, पाप प्रवृत्ति से, शोक, दुःख, अनुताप से संतप्त होकर एक दीर्घ-श्वास छींची, जिससे उसका पेट फटकर मरण हुआ और नरक में गया।

ध्वल सेठ को किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं मिला। श्रीपाल के कारण उसको क्षमा किया गया। परन्तु दुष्प्रवृत्ति, कुटिलता, कामासक्ति, कृत्यन्ता आदि अशुभ भावनाओं के कारण उसमें मानसिक, स्नायविक, भावात्मक तनाव पैदा हुआ। उस तनाव ने ही उसे मृत्यु दण्ड दिया।

श्रीपाल का महान् उदार भाव-- श्रीपाल, सेठ की मरण सूचना सुनकर सेठानी को सांत्वना देने के लिये समुद्र के किनारे पहुँचा। सेठानी को नम्रभाव से बोले--‘हे माँ! आप मेरी माता हैं। आप चिन्ता मत कीजिए। आप का लड़का मैं जिन्दा हूँ। आपकी सम्पूर्ण प्रकार से सेवा करने के लिए तन-मन-धन से तैयार हूँ। आप चाहो तो खुशी से यहाँ रह सकती हो या स्वदेश वापिस जाना चाहती हो तो मैं सम्पूर्ण व्यवस्था कर दूँगा।’ सेठानी बोली-- बेटा मुझे देश जाना है तो श्रीपाल ने देश जाने की समस्त व्यवस्था कर दी

इसी प्रकार श्रीपाल विदेश में पुरुषार्थ एवं धर्म के माध्यम से अनेक विभूति, कीर्ति एवं अनेक सुन्दर स्त्रियों को प्राप्त करके वापिस स्वदेश आया। स्वदेश में राजसिंहासन पर आरुढ़ होकर प्रजा को पुत्र के तुल्य पालन करके अनेक वर्ष सुखपूर्वक जीवन-यापन किया। एक बार महल के ऊपर खड़े होकर दिक्-अवलोकन कर रहे थे। तब विद्युत् चमक कर विलय हो गयी। श्रीपाल इस घटना को देखकर विचार करने लगे संसार, शरीर, भोग, विद्युत् के समान क्षणभंगुर हैं। इस प्रकार विचार करते-करते वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ। उसने पुत्र धनपाल को राज्य सिंहासन पर आरुढ़ कर 700 वीरों के साथ अन्तर्रंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग कर यथाजात बालकवत् दिग्म्बर वेष को धारण कर, निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा ले ली। कठोर आत्मसाधन के माध्यम से केवलज्ञान को प्राप्त करके नित्य, निरंजन पद को प्राप्त किया। मैनासुन्दरी तथा अन्यान्य रानियाँ ने भी आर्यिका दीक्षा धारण कर आत्मसाधना की, जिससे मैनासुन्दरी स्त्री लिङ्ग को छेदकर 16वें स्वर्ग में देव हुई। अन्य रानियाँ भी स्वयोग्य तपश्चरण के कारण स्वर्ग में देव हुई।

अध्याय 3

दैव एवं पुरुषार्थ के परस्पर जन्यजनकत्व

वर्तमान में हम दैव एवं पुरुषार्थ का वैभव एवं शक्ति का पर्यालोचन करेंगे, जिसके साम्राज्य संसार एवं मौक्ष हैं।

यत्वाग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्मशुभं वा शुभं,
तदैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम् ।
कुर्यादः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भं परिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्यः सताम् ॥

आत्मानुशासन (262)

जीव ने पूर्वभव में जिस पाप या पुण्यकर्म का संचय किया, वह दैव है। वह दैव दो प्रकार का है। (1) पाप दैव, (2) पुण्यदैव। इन दोनों दैव का सृष्टि करने वाला जो कर्ता है वह यथाक्रम (1) असत् पुरुषार्थ, (2) शुभ पुरुषार्थ। “शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य”।

Virtuous activity is the cause of merit (Punya) and wicked activity is the cause of demerit (Paap)

उसकी कर्म की उदीरणा से अर्थात् पापदैव एवं पुण्यदैव का शासनकाल में दोनों दैव को अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है अर्थात् शुभ-पुरुषार्थ को करता है, पाप-पुरुषार्थ का त्याग करता है, वह ही प्रशंसा योग्य है किन्तु जो परम पुरुषार्थी दोनों दैव को ही नष्ट करने के लिये समस्त दैव का (अनुग्रह एवं कृतज्ञता, आरम्भ व परिग्रह) रूपी पराधीनता को त्याग करके परम-पुरुषार्थ रूप स्वाधीन, स्वराज्य में रमण करता है, वह तो सज्जन पुरुषों के लिये भी वन्दनीय है।

यह महापराक्रमी धूर्त, मूर्ख (जड़) दैव विभिन्न राज्य में विभिन्न नाम धारण करके पुरुषों के ऊपर शासन करता है।

विधि: स्त्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम् ।
ईश्वरश्चेति पर्याया विजेया कमविधसः ॥

विधि, स्त्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृतम्, ईश्वर, कर्म आदि अनेक नामों को धारण करने वाला यह जड़ दैव है। यह दैव मूर्ख (जड़) होकर भी संसार में एक जगाधिप शासन करने की शक्ति, अशिक्षित, आलसी, पुरुषार्थ विमुख पुरुषों से प्राप्त की।

जीवपरिणामहेदुं कम्मलं पुगला परिणामति ।
पुगल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥

‘समयसार’ ॥180॥

Material molecules are transformed into Karmas by reason of the mundane souls (संसारी आत्मा) thought activity, similarly the mundane soul is transformed (into its impure thought activity) by reason of operation of Karmic matter.

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्मभाव से परिणमन करते हैं। इसी प्रकार दैव को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष (परम-पुरुषार्थ से हीन पुरुषार्थी) है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष है। जब पुरुष उसको शक्ति प्रदान करता है तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरिसेणा हारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं
मसंवसारुहिरादि भावे उदरग्नि संजुत्तो ॥

As the food taken by a man is modified in many ways in the form of flesh blood etc. By reason of the digestive heat of the human system. That like the molecules of the karmic matter modified in many, in the form of eight kinds of karma by impure thought activity of the mundane soul.

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार वह उदराग्नि से युक्त हुआ अनेक प्रकार मांस, रुधिर आदि भाव रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्मपुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके 8 प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप से परिणमन करता है।

भोजन के पहले खाद्यसामग्री, रोटी, भात, दाल आदि रूप में रहती है। भोजन करने से वही खाद्यसामग्री, खाने वाले के चर्वण, लार, पाचनशक्ति आदि के निमित्त से रस, रुधिर, माँस, मेद (चर्बी) अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज आदि रूप परिणमन हो जाती है। उसी प्रकार से कर्मवर्गणा जब तक जीव के योगऔर उपयोग को निमित्त प्राप्त करके अस्त्र एवं बन्धरूप परिणमन नहीं करती है तब तक वह वर्गणा

केवल भौतिक पुद्गल स्वरूप ही रहती है। जीव के योग एवं उपयोग को प्राप्त करके वही कर्मवर्गणा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि कर्म रूप से परिणमन कर लेती है। जीव के योग एवं उपयोग को प्राप्त करने से पहले कर्मवर्गणा जड़ रूप में रहती है एवं योग-उपयोग रूपी जीव के शुभाशुभ निमित्त को प्राप्त करके दैव रूप में परिणमन कर लेती है। इससे सिद्ध होता है कि दैव भी पुरुषार्थ से जायमान-उत्पन्न है। जैसे-अण्डा से पक्षी, उसी प्रकार शुभाशुभ पुरुषार्थ भी पूजाजित दैव के कारण होता है। इसलिये कथञ्चित् पुरुषार्थ भी दैव से जायमान है। जैसे-- अण्डा से पक्षी जायमान है और पक्षी से अण्डा जायमान है। जैसे-- बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कथञ्चित् कर्म (दैव) से पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ से कर्म उत्पन्न होता है। अभव्य जीवन के दैव कर्म (दैव) से पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ से कर्म उत्पन्न होता है। अभव्य जीवन के दैव एवं पुरुषार्थ की परम्परा अनादि अनन्त होते हुये भी मोक्ष जाने वाले भव्यों की यह परम्परा अनादि शान्त है। दैव एवं पुरुषार्थ का परस्पर जन्यजनक का भाव बताते हुये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी निम्न प्रकार बताते हैं--

भावो कम्म णिमित्तो कम्भं पुण भावकारणं हवदि ।
ण दु तेसिं खलुकत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं । ।

पंचास्तिकाय ॥ 60 ॥

Bhava or emotional states are conditioned by Dravyakarma or matter. And Karma in its turn is indeed conditioned by karmic thought or Bhava. Soul is not the essential cause in that case and still without essential cause those changes cannot happen.

निर्मल चैतन्यमयी ज्योति-स्वभावरूप शुद्ध जीवास्तिकाय से प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्व व रागादि परिणाम है, वह कर्मों के उदय से रहित चैतन्य का चमत्कार मात्र जो परमात्म स्वभाव है, उससे उल्टे जो हृदय में प्राप्त कर्म हैं उनके निमित्त से होता है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों से रहित जो शुद्धात्म तत्व है, उससे विलक्षण जो नवीन द्रव्यकर्म हैं सो निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति से विरुद्ध जो रागादि भाव हैं उनके निमित्त से बंधते हैं। ऐसा होने पर भी जीव सम्बन्धी रागादिभावों का और द्रव्य कर्मों का परस्पर उपादान कर्ता जीव ही है तथा द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल ही है। दूसरे व्याख्यान में यह तात्पर्य है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से विचार किये जाने पर जीव रागादि भावों का कर्ता है यह बात सिद्ध है।

आदा कम्म मलिभसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तों सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो । 121 ॥

प्रवचनसार

"संसार" नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उसी प्रकार का) परिणाम है वही

द्रव्यकर्म के चिपकने का (बंध का) हेतु है। अब, उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है? (इसके उत्तर में कहते हैं कि) द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्य कर्म के संयुक्त से ही वह (अशुद्ध परिणाम) कर्म है।

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आयेगा, क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ सम्बद्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है उसका वहाँ हेतु रूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम होने से वह उपचार से द्रव्यकर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता भी उपचार से है।

जीव परिणामहेतुं कम्भं पुगला परिणमति ।
पुगल कम्मणिमितं तहेव जीवो वि परिणमदि । । (80)
ण वि कुब्दि कम्मगणे जीवो कम्भं तहेव जीवगुणे ।
अणोण्ण णिमितेण दु परिणामं जाण दोण्हं यि । । (81)

यद्यपि जीव के रागद्वेषी परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीवकर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादिक गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुगल कम्मकदाणं ण दु कत्ता सण्क्षभावाणं । । 92 ॥

समयसार

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इसका व्याख्यान किया गया है।

व्यवहार नय से भिन्न घटकारक के अनुसार जीव के रागद्वेष निमित्त पाकर कर्मपरमाणु द्रव्यकर्म रूप में-- परिणमन करता है। द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। परन्तु निश्चयनय से एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं होने से जीव परिणाम के हेतु पुद्गल नहीं है, एवं पुद्गल के परिणाम के हेतु जीव नहीं है। पंचास्तिकाय में कहा है--

निश्चय नयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूपं कर्तृत्वमुक्तम् ।

निश्चय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के (अपने-अपने

रूप के) कर्ता है।

निश्चय नय से जीव पुद्गल का कर्ता नहीं होने पर भी व्यवहारनय से कर्ता है।

आगम में कहा भी है--

पोगल कम्मादीणं कत्ता वववहारंदो दु णिच्छयदो ।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८ ॥
(वृहत्द्रष्ट्यसंगतह)

According to Vyavahara Naya, Jeeva is the doer of the Pudgala Karmas. According to Nishchaya Naya, Jeeva is the doer of thought-karmas. According to Suddha Naya, jeeva is the doer of Suddha Bhavas.

आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्ता है और शुद्धनय से शुद्ध भावों का कर्ता है।

ववहारा सुहुकखं पुगलकम्मफलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छचणयदो चेदणभावं खु आदस्य ॥९ ॥
(वृहत्द्रष्ट्य संग्रह)

Accoding to Vyavahara Naya, Jeeva enjoys happiness and misery, the fruits of pudgala karmas. According to Nishchya Naya, Jeeva has conscious Bhara only.

आत्मा व्यवहार से सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा, चेतन स्वभाव को भोगता है।

यदि एकान्ततः निश्चयनय के समान, व्यवहारनय से भी जीव, कर्म का कर्ता नहीं है, तब अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जायेंगे। व्यवहार से भी जीव, कर्म का कर्ता नहीं होने पर कर्मबन्धन नहीं होगा, कर्मबन्धन के अभाव से संसार का अभाव हो जायेगा। संसार के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा, जोकि आगम, तर्क, प्रत्यक्ष एवं अनुभव विरुद्ध है। निश्चयनय का विषय व्यवहार से संयोजना करके शिष्य, गुरुवर्य कुन्दकुन्दाचार्य से निम्न प्रकार प्रश्न करता है--

कम्मं कम्मं कुब्दि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं ।
किध तस्स फलं भुज्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥ (63)
(पञ्चास्तिकाय प्राभृत)

आगे पूर्वोक्त प्रकार से अभेद छः कारक का व्याख्यान करते हुए निश्चयनय से यह व्याख्यान किया गया है। इसे सुनकर 'नयों' के विचारों को न जानता हुआ शिष्य एकान्त को ग्रहण करके पूर्वपक्ष करता है।

यदि द्रव्यकर्म, द्रव्यकर्म को एकान्त से बिना जीव के परिणाम की अपेक्षा करता है और वह आत्मा अपने को ही करता है — द्रव्यकर्म को नहीं करता है तो किस तरह आत्मा उस बिना किये हुए कर्म के फल को भोगता है और यह जीव के बिना किया हुआ कर्म आत्मा में फल कैसे देता है? इस प्रश्न का आगमोक्त यथार्थ प्रत्युत्तर देते हुए कुन्दकुन्द स्वामी बताते हैं—

निश्चयेन जीवकर्मणोश्चैक कर्त्तत्वेदीप व्यवहारेण कर्मदन्तफलोपलंभो जीवस्य न विरुद्धयत इत्यन्तोक्तम् ।

जीवा पुगलकाया अणोण्णागाढगहणपडिबद्धा ।
काले विभुज्जमाणा सुहुकवदेति भुज्जन्ति ॥ (67)

आगे शिष्य ने जो पूर्वपक्ष किया था कि बिना किये हुए कर्मों का फल जीव किस तरह भोगता है उसी का उत्तर नय विभाग से जीव फल को भोगता है-- ऐसा युक्तिपूर्वक दिखाते हैं।

संसारी जीवों के अपने-अपने रागादि परिणामों के निमित्त से तथा पुद्गलों में स्त्रिघ-रुक्ष गुण के कारण द्रव्यकर्म-वर्गणायें, जीव के प्रदेशों में जो पहले से ही बंधी हुई होती हैं वे ही अपनी स्थिति के पूरे होते हुए उदय में आती है, तब अपने-अपने फल को प्रगट कर झड़ जाती हैं, उसी समय वे कर्म अनाकुलता लक्षण जो परिमार्थिक सुख है उससे विपरीत परम आकुलता को उत्पन्न करने वाले सुख तथा दुःख उन जीवों को मुख्यता से देती है, जो मिथ्या दृष्टि है अर्थात् जो निर्विकार चिदानंदमयी एकस्वभावरूप जीव को और मिथ्यात्व रागादि भावों को एक रूप ही मानते हैं और जो मिथ्याज्ञानी हैं अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि जीव रागद्वेष मोहादि रूप ही होते हैं तथा जो मिथ्याचारित्री हैं अर्थात् जो अपने को रागादि परिणमन में ही रत, रखते हैं ऐसे मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र में परिणमन करते हुए जीव अभ्यन्तर में अशुद्धनिश्चय से ही हर्ष या विषादरूप तथा व्यवहार से बाहरी पदार्थों में नाना प्रकार इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों के प्राप्तिरूप मधुर या कटुक विष के रस के आस्वादरूप सांसारिक सुख या दुःख की वीतराग परमानन्दमयी सुखामृत के रसास्वाद के भोग को न पाते हुए भोगते हैं। निश्चय से तो वे अपने भावों को ही भोगते हैं, व्यवहार से वे पदार्थों को भोगते हैं, ऐसा अभिप्राय जानना।

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं ।
हिंडिपारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ 169 ॥

एवमयमात्मा प्रकटितप्रभुत्व-शक्तिः स्वकैः कर्म भिर्गृहीत कर्तृत्वं
भोक्तृत्वाधि कारोऽनादिमोहावच्छन्नत्वादुपजातविपरीतभिनिवेशः अत्यस्तमितसम्यज्ञान-ज्योतिः
सांतमनन्तं वा संसारं परिभ्रमतीति ॥

इस प्रकार अपने कर्मों से कर्त्ताभोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित बर्तता
हुआ अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

इस प्रकार प्रगटप्रभुत्वशक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों के द्वारा कर्तृत्व एवं
भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्मा को अनादि मोहाच्छादितपने
के कारण विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञानज्योति अस्त हो गई है,
इसलिये यह सांत अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

जं जं जे जे जीवा पञ्जायानां परिणमति संसारे ।

रायस्स य दोस्सस्य मोहस्स वसा मुणेयत्वा । 1988 ॥

संसार में जो-जो जीव जिस-जिस पर्याय से परिणमन करते हैं वे सब रागद्वेष
और मोह के वशीभूत होकर ही परिणमते हैं, ऐसा जानना।

अध्याय 4

पुरुषार्थ से भाग्य में परिवर्तन

एक दिन दो मित्रों में विचार-विमर्श चल रहा था। एक अपना विचार प्रस्तुत
कर रहा था कि चलो मन्दिर में जाकर वीतराग भगवान् का पूजन-भजन, अचन,
गुरुसेवा, स्वाध्याय, मनन-चिन्तन पूर्वक रात्रि व्यतीत करेंगे। दूसरे मित्र ने
उसके विचार को नकारते हुए अपना विचार प्रस्तुत किया कि नहीं, मन्दिर में जाकर
आपके विचारानुसार देव-दर्शनादि कार्य से क्या मिलने वाला है? मेरा तो विचार है
कि वेश्यालय में जाकर वेश्या के साथ राग-रंग, हास्य-विलास एवं रमन में रात्रि
व्यतीत करेंगे जिससे कि बहुत आनन्द अनुभव होगा। प्रथम मित्र धर्मात्मा सदाचारी
होने के कारण द्वितीय मित्र के विचार से सहमत नहीं हुआ। प्रथम मित्र ने द्वितीय
मित्र को समझाते हुए कहा कि मन्दिर में जाकर देव-दर्शनादि से पूर्वोपार्जित
दुर्भाग्य कर्म नष्ट होता है, सौभाग्य का संचय होता है। आत्मविशुद्धि होती है, मन
प्रसन्न होकर मानसिक शांति होती है इसलिये मन्दिर जाना ही श्रेयस्कर है परन्तु
वेश्यालय में जाकर वेश्या-रमन से पापकर्म (दुर्भाग्य) का संचय होता है, पुण्यकर्म
(सौभाग्य) क्षीण हो जाता है, मानसिक अशांति मिलती है, लोक निन्दा होती है एवं
मरणोपरान्त जीवन अत्यन्त दुःख पूर्ण होता है इसलिये वेश्या गमन श्रेयस्कर नहीं
है। प्रथम धर्मात्मा मित्र के विचारों को सुनकर द्वितीय पापी मित्र ने कहा कि
वेश्यागमन में साक्षात् सुख अनुभव होता है जो कि देव-दर्शनादि से प्राप्त नहीं
होता है। पुण्य से मरणोपरान्त जीवन सुखमय होता है, किसने देखा? इसलिये इस
जीवन में ही जिस प्रकार भी हो सुख अनुभव करना चाहिये। इसी प्रकार दोनों
मित्रों में परस्पर तर्क-वितर्क चला परन्तु एक दूसरे से सहमत नहीं हो पाये इसलिये
प्रथम धर्मात्मा मित्र ने मन्दिर में जाकर देव-दर्शन, गुरु सेवा, चितन-मनन में रात्रि
व्यतीत की। द्वितीय मित्र ने वेश्यालय में जाकर वेश्या के साथ राग-रंग में रात्रि
व्यतीत की।

प्रातः काल दोनों जब घर वापिस आ रहे थे तब धर्मात्मा मित्र के पैर में एक
बहुत बड़ा कांटा चुभ गया। वेश्यागामी मित्र को रास्ते में पड़ी हुई रूपयों की थैली
मिली जिसमें 1000 रुपये थे। जब वे दोनों मिले तब द्वितीय मित्र ने अट्ठास करते
हुए मित्र से कहा, देखो मित्र! मैंने पूरी रात्रि वेश्या गमन से आनन्द अनुभव किया
और वापिस आते समय भी एक हजार रुपये की थैली मिली और आपको क्या
मिला? तब उस धर्मात्मा को साक्षात् पाप का फल अच्छा दिखा और धर्म का फल
बुरा दिखा तो मन ही मन चिंतित होते हुए उसने कहा कि मैंने पूर्ण रात्रि
देव-दर्शन, गुरुसेवा, मनन-चितन से आनन्द एवं शान्तिपूर्वक विताई कितु वापिस
लौटते समय एक बड़ा कांटा मेरे पैर में चुभ गया। उसके दूसरे मित्र ने पुनः

व्याख्यात्मक हास्य करते हुए कहा देखो मित्र! मैंने कहा था न, कि धर्म और पुण्य का फल किसने देखा? जब सत्ता ही नहीं है तो उसका फल कैसे मिलेगा? इसलिए जीवन में जैसे भी हो सुख भोगना चाहिये। आपने मन्दिर में पुण्य - क्रियायें करके भी कुछ प्राप्त नहीं किया अपितु कांटा भी चुभ गया। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य से सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख ही मिलता है। तब धर्मात्मा मित्र बोला, नहीं, ऐसा नहीं होता, धर्म से कभी भी दुःख नहीं मिलता तथा पाप से सुख नहीं मिलता, जैसे अग्नि से शीतलता प्राप्त नहीं हो सकती, सूर्य पश्चिम में उदैत नहीं होता, उसी प्रकार धर्म से दुःख नहीं मिलता। इसी तरह दोनों तर्क-वितर्क करते हुए इस निर्णय पर पहुँचे कि इसका समाधान किसी विशिष्ट ज्ञानी से कराना चाहिये। दोनों विचार-विमर्श करके एक अतीन्द्रिय ज्ञानी (अवधि-ज्ञानी) मुनीश्वर के समीप पहुँचे। मुनीश्वर को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके दोनों ने अपनी-अपनी जिज्ञासा प्रकट की तब मुनीश्वर अत्यन्त गम्भीर, मधुर वचन ने निम्न प्रकार से उनकी शंकाओं का समाधान किया।

वेश्यागामी को मुनीश्वर ने संबोधन करते हुए कहा- पूर्वभव में तुमने इतना पुण्य कमाया था कि जिसके फलस्वरूप तुमको आज एक राज्य की प्राप्ति होती, परन्तु तुमने वेश्यागमन करके उस पुण्य की क्षीण कर दिया, जिससे तुम्हें सिफर एक हजार रूपये की धैली मिलकर वह पुण्य का फल समाप्त हो गया। पुनः मुनीश्वर उस धर्मात्मा को सम्बोधित करते हुए बोले--‘तुमने पूर्वभव में इतना पाप कमाया था, जिसके फलस्वरूप तुमको आज शूलीदण्ड मिलने का अवसर था, परन्तु तुमने मन्दिर जाकर धर्म ध्यान से दर्शन पूजन आदि से उस पाप को इतना क्षीण कर दिया जिसके फलस्वरूप तुम्हें आज एक कांटा मात्र ही चुभकर उस पाप का फल समाप्त हो गया। दोनों मित्रों को पुनः मुनीश्वर ने सम्बोधन करते हुए कहा-

पापाद् दुःखं धर्मान्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
हस्माद्विद्यय पापं चरुं सुखार्थी सदा धर्मम् ॥ ४॥

(आत्मानुशासन)

Demerit produces pain, happiness follows Truth (Dharma). This is well-known to all. Therefore, the man who desires happiness should always refrain from demerit (and) follow Dharma.

पाप से दुःख और धर्म से सुख होता है, 'यह बात सब जनों (जन सामान्य) में प्रसिद्ध है' - इसे सब ही जानते हैं। इसलिये जो भव्य प्राणी सुख की अभिलाषा करता है, उसे पाप को छोड़कर निरन्तर धर्म का आचरण करना चाहिये।

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तत् कार्य ।
सुखितस्य तदभिवृद्धयै दुःखं भुजस्तदुयधाताय ॥ १८॥

(आत्मानुशासन)

Whether happy or miserable in this world , thou must exercise piety, if happy to increase the happiness and if miserable to remove the misery.

हे जीव ! तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो और चाहे दुःख का, किन्तु संसार में इन दोनों ही अवस्थाओं में तेरा एकमात्र कार्य धर्म ही होना चाहिए। कारण यह है कि वह धर्म, यदि तू सुख का अनुभव कर रहा है तो, तेरे उस सुख की वृद्धि का कारण होगा, और यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुःख का विनाश का कारण होगा।

उपरोक्त मुनिराज के संबोधन से दोनों प्रतिबोध को प्राप्त हुए। वेश्यागामी अधर्मात्मा व्यक्ति तथा अधर्म से उपार्जित दुर्भाग्य का कष्टप्रद फल जानकर पाप से भयभीत होकर पाप का त्याग कर धर्म कर्म में रुचि लेने लगा। धर्मात्मा व्यक्ति धर्म का फल एवं पाप का फल गुरुमुख से सुनकर और अधिक धर्म में निष्ठ होकर धार्मिक कार्यों में तत्पर हो गया।

कबीरदास ने कहा है--

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करें, तो दुःख काहे को होय ॥ ॥

साधारणतः: जीव दुर्भाग्य के कारण जिस समय में अनेक प्रकार के दुःख संकटों से गुजरता है, उस समय में धर्म का स्मरण करता है। परन्तु सुख सुविधाओं के अनुभव करते समय धर्म को भूल जाता है, जिसके कारण पुण्य - क्षय के पश्चात् पुनः अनेक प्रकार की आपत्तियों-विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। परन्तु सुख-सुविधाओं के समय में यदि धर्माचरण करता है तब उसे कभी भी मुसीबतों का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि धर्माचरण से जो पुण्य संचय होता है, उस पुण्य से भविष्य में सुख की प्राप्ति होती है। धर्माचरण के समय में मन प्रसन्न, भाव प्रशस्त होने के कारण मानसिक शांति से सुख मिलता है। इसलिये धर्म-पुरुषार्थ के फलस्वरूप सौभाग्य से भी भविष्य में सुख मिलता है। अधर्म से तात्कालिक मानसिक दुःख, लोक निदा, प्रताङ्गना मिलती है और भविष्यत् काल में उसके फलस्वरूप दुर्भाग्य से अनेक शारीरिक, मानसिक दुःख मिलते हैं।

प्रत्यक्ष से संसार में देखने में आता है कि कभी-कभी धर्मात्मा पुरुषों को शारीरिक एवं भौतिक दुःखों की प्राप्ति होती है। कभी-कभी पापी शारीरिक एवं भौतिक सुखों का अनुभव करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो धर्मात्मा धर्म कर रहा है उसके फलस्वरूप उसको दुःख हो रहा है। परन्तु पूर्वोपार्जित दुर्भाग्य (दुर्दैव) का फल अनुभव कर रहा है। जैसे-एक व्यक्ति वर्तमान में एक महीने में तीन हजार रुपये उपार्जन करते हुए भी वह आर्थिक संकट से गुजर रहा है। इसका कारण वर्तमान उपार्जित तीन हजार रुपये नहीं, परन्तु

उसकी आय की अपेक्षा व्यव अधिक या पहले लिया हुआ ऋण है। इसी प्रकार जो वर्तमान सम्यक्पुरुषार्थ, धर्म-पुरुषार्थ करते हुए भी दुःख और संकटों को झेल रहा है उसका कारण सम्यक् पुरुषार्थ या धर्म पुरुषार्थ नहीं है परन्तु उस धर्मकार्य में कमी या पूर्व संचित पाप कर्म है। पूर्व संचित पाप-कर्म उदय में आकर धर्मात्मा को भी शारीरिक, भौतिक कष्ट देने में समर्थ होता है। इसी प्रकार पुरुषार्थीन पाप-कर्म में रत पुरुष को जो तात्कालिक शरीरिक, भौतिक सुख मिलता है उसका कारण उसकी पुरुषार्थीनता या अर्धम नहीं है किन्तु पूर्व संचित पुण्यकर्म का फल है। जैसे—एक व्यक्ति यौवन अवस्था में धन संचय करके बैंक में धन संचित रखता है एवं वृद्धावस्था में बिना धन उपार्जन करते हुए भी सुख-सुविधा में रहता है। इसका कारण पूर्व संचित धन है।

अध्याय 5

भाग्य (दैव) की प्रचण्डशक्ति

प्रत्येक जीव स्वभावतः प्राकृतिक रूप से अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का स्वामी हैं। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता है, तो भी संसार अवस्था में जीव अनन्त दुःख, अज्ञान का अनुभव करता है। यहाँ पर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनन्तज्ञान सुखादि गुण, तिरोभाव क्यों एवं कैसे हुए? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर आध्यात्मिकयोगी कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार में देते हैं—

सो सत्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणांवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो णावि जाणदि सत्वदो सत्वं । । (167)

(स शुद्धात्मा निश्चेयन) समस्तपरिपूर्ण ज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्म रजसोऽवच्छिन्नो इम्पितः सन् । संसारसमापन्नः संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्ववस्तु, सर्वतः सर्व प्रकारेण

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जानने वाला देखने वाला है, फिर भी वह अपनी कर्मरूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

The self who is by nature all-knowing and all perceiving when soiled by his own karmas is dragged on towards Samsara the cycle of births and deaths and becomes incapable of knowing all things completely.

अनन्तशक्ति सम्पन्न जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्ष द्रव्य भी अनन्तशक्ति सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि कम शक्ति से अधिक शक्ति को पराभूत करना सम्भव नहीं है। इसलिए जीव के उपादानभूत अनन्तगुण को घात करने वाला निमित्त भूत कर्म भी अनन्तशक्ति सम्पन्न है। परमात्मप्रकाश में श्री योगेन्द्रदेव 'कर्मशक्ति' का वर्णन करते हुए बताते हैं—

कम्मइँ दिढ़-घण चिक्कणइँ गरुवइँ वज्जसमाइँ ।
णाण-वियक्खणु जीवइउ उप्पहि पाइहिं ताइँ । । (78)

अनन्तज्ञान वीर्यादि गुणों से युक्त भगवान् आत्मा को कुपथ में पटकने वाला कर्म अत्यन्त बलवान् धनस्वरूप दूसरों के द्वारा (जीव) सहज से नष्ट नहीं होने वाला अत्यन्त चिकने एवं वज्र के समान कठोर एवम् भारी होने से अभेद्य एवं अच्छेद्य है।

आचार्यप्रवरभट्टअकलंकदेव स्वामी संसार का मूल कारण बताते हुए 'राजवार्त्तिक' में बताते हैं कि --

"तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम्" ।

वह (कर्म) आत्मा को परतन्त्र करने में मूलकारण है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में भी कहा है--

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।

मत्तः पुमान्यदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः । । (7)

जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव मदमत्त होकर हिताहित विवेक से रहित हो जाता है, उसी प्रकार मोहकर्मस्ती यद्य से पराभूत होकर, आचार्यादित होकर स्वाभाविक अनन्त ज्ञान अपना स्वशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है, जान नहीं पाता है।

अनादि काल से अनन्त ज्ञानादि सम्पन्न वह परमात्मा द्रव्य कर्म से पराभूत होकर संसार में दर-दर का भिखारी होकर परिभ्रमण कर रहा है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने पर जीव में अनन्तशक्ति होते हुए भी कर्म परवशतः अनन्त शक्ति व्यक्त रूप में नहीं है, परन्तु अव्यक्त होने के कारण केवल संभावनारूप में सुप्तावस्था में जीव में अवस्थित है। इसलिए पर्यायनिष्ठ दृष्टि से देखने एवं विचार करने पर अनादि काल से कर्म की परतन्त्रता से संसारी जीव की शक्ति बहुत ही क्षीण है एवं कर्म की शक्ति बहुत ही दृढ़ है। इसलिये यह जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। संसारावस्था में जीव एवं कर्म का द्वन्द्व-युद्ध चलता है।

कथ्यवि बलिओ जीवो कथ्यवि कम्माइं हुंति बलियाइं ।

जीवस्स य कम्मस्स य पुब्विरुद्धाइं वइराइं । ।

(श्रे. शास्त्र)

कभी-कभी जीव बलवान् हो जाता है और कभी-कभी कर्म बलवान् हो जाता है। इसी प्रकार जीव एवं कर्म का पूर्वकालीन अनादि से विरोध एवं वैर चल रहा है।

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृष्टः ।

स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थ को वा न वांछति । । 31 ।।

इष्टोपदेश

कर्म अपने हितरूपी साधी कर्म को ही बँधता है। जीव अपने आत्मा के हित की इच्छा करता है। जब कर्म ही शक्तिशाली होता है तब अपने सहयोगी कर्म को संग्रहीत करके और भी अधिक शक्ति संगठित करके जीव के ऊपर अपना पूर्ण प्रभाव डालता है अर्थात् जीव को अपने अधिकार में कर लेता है। जब जीव योग्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करके शक्ति सम्पन्न होता है तब अपने हित साधन के लिए, कर्म के बन्धन को क्षीण एवं विघ्वंस करता है। ठीक ही है-- अपने-अपने शक्तिशाली प्रभाव के होने पर कौन सा व्यक्ति अपना हित नहीं चाहता है अर्थात् सभी चाहते हैं।

प्रत्येक जीव अनेक गुण के पिण्डस्वरूप होते हैं। उन अनेक गुणों का धात करने वाले अनेक कर्म होते हैं। प्रत्येक कर्म के बारे में विशेष जानने के लिए गोम्भट्सार, कर्मकाण्ड, ध्वल, जयध्वल आदि सिद्धान्त शास्त्रों का परिशीलन करना चाहिए। यहाँ पर कुन्दकुन्दचार्य कृत 'समयसार' से प्रस्तुत करते हैं--

वत्थरत्त सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छणो ।

मिच्छत्तामलोच्छणं तह सम्भत्तं खु णादत्वं । । (157)

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदिमलविमेलणाच्छणो ।

अण्णाणमलोच्छणं तह णाणं होदि णादत्वं । । (158)

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदिमलविमेलणाच्छणो ।

तहदु कसायाच्छणं चारित्तां होदिणादत्वं । । (159)

(त्रिकलम्)

"As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let be known that right faith is blurred by wrong belief. As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let it be known that right knowledge is destroyed, when clouded by nescience. As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let it be known that right conduct becomes perverted when vitiated by soul soiling passions."

जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से अवहिन्न होकर अर्थात् दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व मल के विशेष सम्बन्ध से दबकर जीव के मोक्ष का हेतुभूत-सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है। जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से दबकर नष्ट हो जाता है। जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कषायरूप मल से दबकर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्र गुण भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं, उनके प्रति विरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव हैं जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों को रोके हुए हैं, होने नहीं देते। जैसे आकाश में सूर्य उदित होने पर भी धने बादल के कारण सूर्य -रश्मि ढक जाती है।

शुद्ध स्फटिक मणि शुभ्र होने पर भी लाल रंग के संयोग से लाल दिखायी देती है, हरे रंग के संयोग से हरी दिखाई पड़ती है उसी प्रकार कर्मयोग से जीव की अवस्था विभिन्न प्रकार की होती है। बद्धमान कर्म जब अपनी प्रचण्ड शक्ति सहित उदय में आता है तब जीव का स्वाभाविक गुण, वैभाविक गुण में परिणमन हो जाता है अर्थात् जीव के वैभाविक रूप से जो परिणमन होता है उसका मूलकारण कर्म ही है। कुन्दकुन्द स्वामी समयसार में जीव के वैभाविक गुण का महत्व बतलाते हुए कहते हैं—

सम्पत्पडिणिबद्धं मिछ्हतं जिणवरेहिय परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिटि ति णादत्वो ॥ (161)

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादत्वो ॥ (162)

चारित्पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरितो होदि णादत्वो ॥ (163)

"It is declared by Jina that Mithyatva karma is adverse to Right Belief; when that begins to operate, the Self becomes a wrong believer; so let it be known. It is declared by Jina that nescience is adverse to Right Knowledge; when that begins to operate; the Self becomes ajnani (one devoid of knowledge); so let it be known. It is declared by Jina that kashaya (soul-soiling-gross emotions) is adverse to Right Conduct; when this begins to operate, the Self becomes-acharitra (devoid of Right Conduct); so let it be known."

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है तथा चारित्र गुण को रोकने वाला कषाय भाव है जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने बताया है। द्रव्य दृष्टि से निम्न श्रेणीय लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय, अभय निर्गोदिया जीव से लेकर पूर्ण विकसित, शुद्ध-बुद्ध, अनन्त ज्ञान सम्पन्न सिद्ध भगवान् तक सम्पूर्ण जीव एक समान हैं क्योंकि इनमें जातीय अपेक्षा से किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। श्रीमद् नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती बताते हैं कि--“सर्वे सुद्धा हु सुद्धण्या” शुद्ध निश्चय नय से संसारी जीव भी भगवान् के समान शुद्ध भाव धारक है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण जीव में आध्यात्मिक साम्यवाद है। स्वभाव दृष्टि से समान होने पर संसारी जीव में जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है, उसका कोई विशिष्ट कारण होना ही चाहिये? इसका कारण कर्म है! कुन्दकुन्दस्वामी, नियमसार में बताते हैं--

“णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लद्धी”

अनेक जीव हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं और अनेक कर्म के अनुसार अनेक लक्षित हैं।

कम्पेण विणा उदयं जीवस्स णविज्ञदो उवसमं वा ।
खइयं खओवसमिय तम्हा भावं तु कम्मकदं । । 58 ॥

पंचास्तिकाय

“न खलु कर्मणा विना जीवस्योदयोपशमौ क्षयक्षायोपशमावपिविद्येते, ततः क्षायिकक्षायोपशमिकश्चौदयिकौपशमिकश्च भावःकर्मकृतोऽनुभवत्व्यः। परिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरूपाधिः स्वाभाविक एव। क्षायिकस्तु स्वभावव्याकृतस्तपत्वादनंतोऽपि कर्मणः क्षयेणोत्पद्यमानत्वत्सादिरिति कर्मकृत् एवोक्तः। औपशमिकस्तु कर्मणामुपशमे समुत्पद्यमानत्वात्, अनुपशमे समुच्छियमानत्वात् कर्मकृत एवति। अथवा, उदयोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणाश्चतस्रो द्रव्यकर्मणमेवावस्था: न पुनः परिणामलक्षणैकावस्थस्य जीवस्य तत् उदयादि संजातानामात्मनो भावानां निमित्तमात्रभूत तथा विद्यावस्थत्वेन स्वयं परिणमनाद् द्रव्यकर्मापि व्यवहारनयेनात्मनो भावानां कर्तृत्वमापद्यत इति ॥ 58 ॥

कर्म के बिना जीव को, उदय-उपशम तथा क्षय, क्षयोपशम नहीं होते (अर्थात् द्रव्यकर्म के बिना जीव को औदायिकादि चार भाव नहीं होते) इसलिए क्षत्रिय, क्षायोपशिमक, औदायिक या औपशमिक भावों को कर्मकृत सम्मत करना। परिणामिक भाव तो अनादि, अनन्त, निरूपाधिः स्वाभाविक ही है। क्षायिकभाव, यद्यपि स्वभाव की व्यक्तिरूप (प्रगटतारूप) होने से अनन्त (अन्तरहित) है, तथापि कर्मक्षय द्वारा उत्पन्न होने के कारण सादि है, इसलिये कर्मकृत ही कहा गया है। औपशमिक भाव कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण तथा अनुपशम से नष्ट होने के कारण कर्मकृत ही है अथवा उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमस्वरूप चार

(अवस्थाएँ) द्रव्यकर्म की ही अवस्थाएँ हैं। परिणामस्वरूप एक अवस्था वाले जीव की नहीं है, इसलिये उदयादिक द्वारा उत्पन्न होने वाले आत्मा के भावों को निमित्तमात्रभूत, ऐसी उस प्रकार की अवस्थाओं रूप (द्रव्यकर्म) स्वयं परिणित होने के कारण द्रव्यकर्म भी व्यवहारन्य से आत्मा के भावों के कर्तृत्व को प्राप्त होती है। 158।।

स्वभावतः-प्राकृतिक रूप से जीव का स्वरूप अमूर्तिक, अभौतिक एवं ज्ञान-विज्ञानमय है परन्तु संसार अवस्था में संसारी जीव, पर्याय की अपेक्षा मूर्तिक एवं रागद्वेष मल से कलुषित परिलक्षित होता है। इस प्रकार विपरीत वैभाविक परिणामन का कारण क्या है, इस प्रकार की जिज्ञासा मन में पैदा होना स्वाभाविक है। इसका प्रत्युत्तर देते हुए पूज्यपाद स्वामी ने सिद्धभक्ति में बताया है कि-

“अस्त्यात्मानादिवद्धः” संसारी आत्मा-अनादिकाल से कर्मबन्धन से बंधा हुआ है। अतः पौदगलिक कर्म- सम्बन्ध से सांसारिक जीव पर्यायदृष्टि से मूर्तिक है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये श्रीमद्वेवसेनस्वामी ने आलापद्धति में कहा है कि--

“जीवस्याप्यसद्भूत व्यवहारेण मूर्त्त स्वभावः ।” (168)

असद्भूत व्यवहार से पुदगल से संश्लेषित सांसारिक जीव मूर्तिक स्वभाव वाला है इसलिये कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार में संसार का कारण स्वभाव बताते हुए निम्न प्रकार से कहा है--

तम्हा दु रात्यि कोई सहावसमवट्ठिदो ति संसारे । ।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स । । । । 120 ।

“IN THIS WORLD, THEREFORE, THERE IS NOTHING AS SUCH-ABSOLUTELY ESTABLISHED IN ITS NATURE, AFTER ALL MUNDANE EXISTENCE IS (ONLY) AN ACTIVITY OF THE SOUL-SUBSTANCE WHICH IS MOVING IN FOUR GRADES OF EXISTENCE.”

वास्तव में जीव द्रव्यत्व से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अनवस्थित है, इससे यह प्रतीत होता है कि संसार में कोई भी (वस्तु) स्वभाव से अवस्थित नहीं है (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल एक रूप रहना नहीं है) और यहाँ (इस संसार में) जो अनवस्थितता है, उसमें संसार ही हेतु है, क्योंकि उसके (संसार के) मनुष्यादि-पर्यायात्मकपना है, कारण कि वह संसार रूप से ही वैसा (अनवस्थित) है। (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है) अब परिणामन करते हुए द्रव्य का जो पूर्व दशा का परित्याग तथा उत्तर दशा का ग्रहण रूप क्रिया नामक परिणाम है, वह ही संसार का स्वरूप है।

द्रव्य-अपेक्षा, स्वभाव एवं जाति की अपेक्षा प्रत्येक जीव समान होते हुए भी सांसारिक जीव में जो विभिन्न विचित्रता परिलक्षित होती है उसका कारण बताते

हुए कलिकाल सर्वज्ञ महाप्राज्ञ वीरसेन स्वामी ने ध्वला में बताया है--

“ण च कारणेण विणा कज्जाणमुपत्ति अत्यि । ततो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्यि ति णिच्छ्यो कायब्दो । जदि एवं तो भमरमहुवर - कयंबादि सण्णिदेहि वि णामकम्मेहि होदव्यमिदि । ण एस दोसो इच्छिज्ञा माणादो ।”

कारण के बिना तो कार्यों की उत्पत्ति होती नहीं है, इसलिये जितने (पृथ्वी, अप्, तेज आदि) कार्य हैं, उतने उनके कारण स्वरूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये।

प्रश्न-- यदि ऐसा है तो भमर-मधुकर कदम्ब आदि नामों वाले भी नामकर्म होने चाहिये?

उत्तर-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो इष्ट है।

इसी कर्म सिद्धान्त को राजवार्तिक में -तार्किक शिरोमणि अकलंकदेव स्वामी निम्न प्रकार बतलाते हैं--

“लोके हरि शार्दूलबृक भुञ्जगादयो निसर्गतः क्रौर्ब शौर्याहारादि संप्रति पत्तों वर्तन्ते इत्युच्यन्ते न चासावाकस्मिको कर्मनिमित्तत्वात् ।

लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता, साँप आदि में शूरता-क्रूरता, आहार आदि परोपदेश के बिना होने से यद्यपि नैसर्गिक कहलाते हैं, परन्तु वे आकस्मिक नहीं हैं, क्योंकि कर्मादिय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्त एवं दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि कर्म के निमित्त को प्राप्त करके यह जीव अनेक वैभाविक परिणामों को प्राप्त होकर नर नरकादि गति में विभिन्न दुःखों को भोगता है।

संसार अवस्था में विशेषतः परिणत अवस्था पर्यन्त कर्म की शक्ति, जीव से अधिक प्रचण्ड रहती है। यह प्रचण्ड शक्ति केवल सामान्य जीव को कष्ट नहीं देती है किन्तु लोक के विशेष, चरमशरीरी, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, तीर्थकर भगवान् को भी परिणत अवस्था में वैचित्र्यपूर्ण कष्ट देती है। इस प्रचण्ड शक्ति का वर्णन अलंकारिक छटा से गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में करते हैं--

पुरा गर्भदिन्नो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं सृष्टा सृष्टेः पतिरथनिधीनां निजसुतः ।
क्षुधित्वा क्षम्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती -
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघं हतविये । । 119 ।

आत्मानुशासन

To whom (for 6 month) before conception Indra (Served) with folded hands, like a servant, who himself (was) the organiser of all organisations, whose son (Bharata was) the possessor of the (nine) treasures (Nidhis), even he, the great (Rishabha Deva)wandered on earth for 6 months, without getting food. Well, the frolics of Doomed Destiny (Karma) are insurmountable by anyone.

जिन आदिनाथ जिनेन्द्र के गर्भ में आने के पूर्व छह महीने से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोड़े हुए सेवा में तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टि की रचना करने वाले थे, अर्थात् जिसने कर्मभूमि के प्रारम्भ में आजीविका के साधनों से—अपरिचित प्रजा के लिये आजीविका विषयक शिक्षा दी थी तथा जिसका पुत्र भरत निधियों का स्वामी (चक्रवर्ती) था, वह इन्द्रादिकों से सेवित आदिनाथ तीर्थकर जैसा महापुरुष भी बुधुक्षित होकर छह महीने तक पृथ्वी पर धूमा, यह आश्चर्य की बात है। ठीक है—इस संसार में कोई भी प्राणी दुष्ट दैव के विधान को लांघने में समर्थ नहीं है।

अविज्ञात स्थानो व्यपगततनुः पावमलिनः,
खलो राहुभस्ति द्रुदशशतकराकान्तभुवनम् ।
स्फुरन्तं भास्वतं किल गिलति हा कष्टमपरं,
परिप्राप्ते काले विलसीत विद्ये: को हि बलवान् ॥ 76 ॥

आत्मानुशासन

It is a great pity that the wicked trunkless Rahu, dark from sin, and of unknown abode, verily devours the glowing Sun, who with his thousand dazzling rays overspreads the earth. Who indeed is (More) powerful (than) the operative age-Karma--when the time of (of its cessation) arrives.

जिसका स्थान अज्ञात है, जो शरीर से रहित है, तथा जो पाप से मलिन अर्थात् काला है वह दुष्ट राहु निश्चय से प्रकाशमान एक हजार किरणों रूपी हाथों से लोकों को व्याप्त करने वाले प्रतापी सूर्य को कवलित करता है, यह बड़े खोद की बात है। ठीक है; समयानुसार कर्म का उदय आने पर दूसरा कौन बलवान् है? आयु के पूर्ण होने पर ऐसा कोई भी बलिष्ठ प्राणी नहीं है जो मृत्यु से बच सके।

वेष्टानोद्देष्टेने यावत्तावद् भग्निर्भवाणवे ।
आवृत्ति परिवृत्तिभ्यां जन्तोमन्थानुकारिणः ॥ 178 ॥

आत्मानुशासन

The living being, like a churning stick, wanders in this ocean of births with goings and comings (births and rebirths) so long as there are the tying and untying (by the rope in case of the churning rod, and by karmas in case of the living being)

मध्यनी का अनुकरण करने वाले जीव के जब तक रस्सी के बँधने और खुलने के कर्मों का बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है तब तक उक्त रस्सी के छींचने और ढीली करने के समान राग और देष से उसका संसार रूप समुद्र में परिभ्रमण होता ही रहेगा।

अनादि काल से जीव अपने स्वभाव से बहिर्मुख होने के कारण असत् पुरुषार्थ रूप से परिणमन कर रहा है। असत् पुरुषार्थ रूप से दैव की शक्ति की वृद्धि होती है, किन्तु हास नहीं होता है। जब तक यह जीव असत् श्रद्धान्, मिथ्याज्ञान, कुचारित्रपी असत् पुरुषार्थ करता रहेगा तब तक दैव को पोषक तत्व मिलता ही रहेगा जिससे दैव का साम्राज्य जीव पर लागू रहेगा। जैसे—कुटनी हस्तनी की भोग इच्छा रूपी कुपुरुषार्थ के कारण महाप्रतापशाली स्वाधीन विचरण करने वाला गजराज भी जंगली दुष्ट पापियों के द्वारा पराधीन होकर उन्हीं को ही अपना स्वामी एवम् पालनपोषण करने वाला एवम् सर्वेसर्वा मानकर उन्हीं की ही सेवा करने लग जाता है, उसी प्रकार पुरुष भी अपने कुपुरुषार्थ के कारण दैव के आधीन होकर दैव को ही सर्वेसर्वा मान बैठता है।

दैवमेव परं मणो धिष्यते र समन्त्येव ।

एसो सालसमुत्तुंगो कण्णो हण्डि संगे ॥ 89 ॥

गो० कर्म

मैं केवल दैव (भाग्य) को ही उत्तम मानता हूँ, निर्व्यक्त पुरुषार्थ को धिक्कार हो, देखो कि किले के समान ऊँचा जो वह कर्ण नामक राजा सी युद्ध में मारा गया। जो एकान्ततः भाग्य से ही कार्य सिद्ध मानते हैं उसका भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

‘दैवादेवार्थ सिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम् ।

दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् । ।

दैवादेव अर्थसिद्धिः चेत् (तदा पौरुषतः देवं कार्य स्यात्) देवतः चेत् अनिर्मेक्षः पौरुष च निष्फलं भवेत्।

दैव (भाग्य)से ही एकान्ततः कार्य की सिद्धि सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान, कार्य की सफलता, निष्फलता अंगीकार की जाय तो प्रश्न यह उठता है कि भाग्य कैसे बना? क्योंकि ‘स्वयं कृतं कर्मयदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।’

What ever karmas you have performed previously
you experience their fruits, whether good or evil.

यह जीव पूर्व में जो शुभ या अशुभ पुरुषार्थ किया था, उसके फलस्वरूप वह पुरुषार्थ का परिपाकरूप शुभ-अशुभरूप भाग्य को उपभोग करता है अर्थात् भूत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य एवं वर्तमान का पुरुषार्थ, भविष्य का भाग्य रूप से परिणमन करता है, जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज की तरह--जैसा बोयेंगे वैसा पायेंगे।

"As we sow, so we reap."

पुरुषार्थ एवं भाग्य में कारण कार्य भाव है--

““साधारणै सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ,
तन्मान्तरार्जित शुभाशुभ कर्म योगात् ।
धीमान् स यः सुगति साधन वृद्धिनाशः,
तद्वयत्याद्विगत धीर परोऽभ्यधायि ॥ 48 ॥

'आत्मानुशासन'

Rise and fall are common to all things according to the meritorious and demeritorious karmas acquired in past life. That man is wise who for attaining a good next condition of existence increases (his merits), and removes his (demerits). The man opposed to this (view) is a fool. This has been said.

समस्त प्राणियों में समान रूप से पूर्व जन्म में संचित किये गये पुण्य एवं पापरूपीभाग्य के उदय से आयु, शरीर एवं धन, सम्पत्ति आदि की वृद्धि और उनका नाश होता है। यदि इस प्रकार कहा जाय कि दैव की सिद्धि पूर्व दैव से ही होती है अर्थात् पहले-पहले के भाग्य से ही आगे-आगे का भाग्य बनता चला जाता है, तब तो इस प्रकार से भाग्य की परम्परा चलती रहने से कभी भी किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा और जो इस भाग्य परम्परा से चलता रहता है, वह "तद्वयत्याद्विगत - धीर परोऽभ्यधायी" दुर्गति (भाग्य) के साधनभूत वृद्धि को (पुरुषार्थ को) अपनाने से निर्बुद्धि कहा जाता है। जो अभ्यय एवं दूरान्दूर भव्य हैं जिनको कभी भी मोक्ष जाना नहीं है, वह अनादि पूर्व परम्परा दैव से अनन्त परम्परा दैव के अधीन रहकर भाग्य की आधीनता से स्वाधीन कभी नहीं हो सकता किन्तु इससे विपरित "धीमान् स यः सुगतिसाधन वृद्धिनाशः" सुगति अर्थात् मोक्ष की सिद्धि करने और वृद्धि एवं भाग्य का नाश करने के लिए पुरुषार्थ को अपनाता है, वह वृद्धिमान, भव्य, पुरुषार्थी है, उसका भाग्य अनादि एवं शांत है। यदि दैव से ही सब

कुछ मान लिया जायेगा तो भाग्य की उत्पत्ति को रोकने के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह तो निष्फल हो जायेगा। यदि पुरुषार्थ की सफलता निमित्त है, ऐसा कहा जाये तो पुरुषार्थ से ही भाग्य का विनाश होता है। इससे मोक्ष की प्रसिद्धि होने से पुरुषार्थ सफल हो जायेगा, सो इस प्रकार का कथन “दैवादेवसर्वः इति या प्रतिज्ञा सा हीयते” दैव से ही सब कुछ होता है इस कथन का निवारण हो जाता है, क्योंकि इस कथन से पुरुषार्थ भी कार्यकारी सिद्ध हो जाता है। यदि कोई भाग्य की कृतज्ञता प्रदर्शन करने के लिये मानेगा तो मोक्ष का कारणभूत जो पुरुषार्थ होता है, वह भी तो भाग्य का कारण होता है। अतः परम्परा से ऐसा सम्बन्ध होने से मुक्ति भी भाग्य के कारण है, तब तो अनेकान्तवाद होने से सत्य हुआ जो कि वस्तु स्थिति है।

अध्याय 6

भाग्य एवं पुरुषार्थ का खेल

प्रद्युम्न कुमार को बाल्यावस्था में पूर्व वैरत्व के कारण धूमकेतु दैत्य अपहरण करके ले गया। पूर्व जन्म में प्रद्युम्न कुमार राजा मधु था। राजा मधु ने इस दैत्य की स्त्री का अपहरण किया था। अतः उस पाप-कर्म के उदय से बाल्यावस्था में ही कुमार का अपहरण हुआ था। दैत्य प्रद्युम्न कुमार को लेकर एक पहाड़ के ऊपर पहुँचा। वहाँ प्रद्युम्न कुमार को बहुत बड़ी चट्ठान के नीचे ढाकर चला गया। कुछ समय पश्चात् मेघकूट नगर का राजा कालसंवर अपनी रानी कनकमाला के साथ आकाश मार्ग से विमान में बैठकर प्रयाण कर रहा था। उस चट्ठान के ऊपर विमान कुछ एक विशेष शक्ति से आकर्षित होकर रुक गया। जब दोनों उस कारण का शोध-बोध करने लगे, तब पाया कि विशाल चट्ठान हिल रही है। कालसंवर ने जब उस चट्ठान को विद्या-बल से हटाया, तब उसने एक अत्यन्त मुन्द्र शिशुको पाया। उस शिशु को आनन्दित होकर अपनी स्त्री को समर्पण कर दिया। उस समय रानी कहती है कि हे स्वामिन्! अपनी अन्य रानियों के 500 पुत्र हैं, यदि आप इसे युवराज पद देने का वचन देते हैं तो मैं इसे स्वीकार करती हूँ। राजा ने रानी को स्वीकृति प्रदान कर दी। उसके बाद दोनों ने मेघकूट नगर पहुँचकर प्रद्युम्न कुमार का जन्मोत्सव बहुत अनन्द पूर्वक मनाया। यहाँ प्रद्युम्नकुमार अत्यन्त सुख सुविधा में वृद्धि को प्राप्त हुआ एवं अनेक विद्या एवं कलाओं में निपुण हो गया। जब वह सोलह वर्ष का नवयुवक हुआ तब राजा ने उसको युवराजपदवी प्रदान की। छोटे भाई प्रद्युम्न कुमार के युवराज होने के बाद अन्य 500 बड़े भाई इसे मारने के लिये विभिन्न षड्यन्त्र रचने लगे।

वे सदाकाल प्रद्युम्न के खान, पान, शयन, आसनादि में धात करने का मौका देखने लगे। यहाँ तक कि वे दुष्ट भाई, प्रद्युम्न के भोजन-पान के पदार्थों में विष मिलाने लगे। परन्तु दैवयोग से विष अमृत रूप में परिणमने लगा।

किसी एक समय कूटनीति के अनुकूल आचरण करने वाले कुमारों के समूह विनीत प्रद्युम्न कुमार को सिद्धायतन के गोपुर के समीप से गये और इस प्रकार की प्रेरणा करने लगे कि जो इस गोपुर के अग्रभाग पर चढ़ेगा वह उस पर रहने वाले देव से विद्याओं का खजाना तथा मुकुट प्राप्त करेगा। साथियों से इस प्रकार प्रेरित हो कुमार वेग से गोपुर के अग्रभाग पर चढ़ गया और वहाँ के निवासी देव से विद्याओं का खजाना तथा मुकुट ले आया। तदनन्तर भाईयों से प्रेरित हो वेग से महाकाल नामक गुहा में घुस गया और वहाँ के तलवार, ढाल, छत्र तथा चमर ले आया। वहाँ से निकलकर नाग गुहा में गया और वहाँ के निवासी देव से उत्तम पादपीठ, नागशय्या, आसन, वीणा तथा भवन बना देने वाली विद्या ले आया। वहाँ से आकर किसी वापिका में गया और युद्ध में जीते हुए देव से मकर के चिट्ठन से चिह्नित ऊँची ध्वजा प्राप्त कर निकला। तदनन्तर अग्नि कुण्ड में प्रवाष्ठ हुआ सो वहाँ से अग्नि से शुद्ध किये दो वस्त्र ले आया तत्पश्चात् मेषाकृति पर्वत में प्रवेश कर कानों के दो कुण्डल ले आया। उसके बाद पाण्डुक नामक वन में

प्रवेश कर वहाँ के निवासी मकर नामक देव से मुकुट और अमृतमयी माला लेकर लौटा। कपित्थ नामक वन में गया तो वहाँ के निवासी देव से विद्यामय हाथी ले आया। वल्मीक वन में प्रवेश कर वहाँ के निवासी देव से छुरी, कवच, कड़ा, बाजुबन्द और कण्ठाभरण आदि प्राप्त किये। शूक्र नामक वनमें शूकर देव से शंख और मुन्द्र धनुष प्राप्त किया। मनोवेग का वैरी वसन्त विद्याधर था, कुमार ने उन दोनों की मित्रता करा दी इसलिए उससे एक कन्या तथा नरेन्द्र जाल प्राप्त किया। आगे चल कर भवन में प्रवेश कर उसके अधिपति देव से पुण्यमय धनुष और उन्नाद, मोह, सन्ताप, मद तथा शोक उत्पन्न करने वाले बाण प्राप्त किये। तदनन्तर एक दूसरी नाग गुहा में गया तो वहाँ के स्वामी देव से चन्दन तथा अगरु की मालाएँ, फूलों का छत्र और फूलों सी शय्या प्राप्त की। तदनन्तर जयन्तगिरि पर वर्तमान दुर्जय नामक वन में गया और वहाँसे विद्याधर वायु तथा उसकी सरस्वती नामक स्त्री से उत्पन्न रति नामक पुत्री लेकर लौटा। इस प्रकार इन सौलह लाभ के स्थानों में जिसे अनेक महालाभों की प्राप्ति हुई थी ऐसे प्रद्युम्न कुमार को देखकर संवर आदि कुमारों के चित्त आश्चर्य से चकित हो गये। तदनन्तर पुण्य का महात्म्य समझ शान्ति धारण कर वे प्रद्युम्न के साथ अपने नगर वापस आ गये। जो प्राप्त हुए सफेद बैलों से जुते दिव्य रथ पर आसूढ़ था; धनुष, पांच बाण, छत्र, ध्वजा और दिव्य आभूषणों से आभूषित था तथा काम के बाणों से पुरुष और स्त्रियों के मन को हर रहा था ऐसे प्रद्युम्न ने सैकड़ों कुमारों से परिवृत हो मेघकूट नामक नगर में प्रवेश किया।

उपरोक्त प्रकरण से विज्ञापाठकों को यह अवगत होगा कि 500 भाईयों ने प्रद्युम्न को 16 बार मारने को पड़यन्त्र रचा, परन्तु कुमार ने पूर्व सचित सौभाग्य एवं वर्तमान के पुरुषार्थ से 16 ही बार संकट से पार होने के साथ-2 विशिष्ट लाभ को भी प्राप्त किया। कुमार ने नगर में आकर पिता कालसंवर के दर्शन करके माता कनकमाला के दर्शन किये। अत्यन्त मुन्द्र नववौद्धन सम्पन्न कुमार को देखकर पूर्व कर्मादय से कनकमाला कुमार के ऊपर मोहित होकर कुमार से प्रेम की भिक्षा मांगने लगी। किन्तु विवेकी कुमार के नीतिवचनों से अस्वीकार करने से कनकमाला पूर्वकालीन कुमार की बाल-अवस्था का समस्त वृत्तान्त बताकर बोली— ‘तुम मेरे बेटे नहीं, न ही मैं तुम्हारी माँ!’ कुमार अपना सन्देह दर करने के लिये जिन मन्दिर में विद्यमान सागरचन्द्र मुनिराज से अपना पूर्व वृत्तान्त पूछा। अवैध ज्ञान सम्पन्न महामुनिराज से सम्पूर्ण वृत्तान्त आद्योपान्त जानकर कुमार को यथार्थ रहस्य विदित (ज्ञात) हुआ। मुनिराज से यह भी ज्ञात हुआ कि कनकमाला से प्रज्ञाप्ति विद्या का लाभ होने वाला है।

प्रद्युम्न जब कनकमाला के पास आया तब कनकमाला मोहित होकर बोली हे काम! यदि तु मुझे चाहता है तो मैं तुम्हें गौरी और प्रज्ञाप्ति नाम की दो विद्यायें देती हूँ तू ग्रहण कर। कुमार बाक् चातुर्थ से दोनों विद्याओं को प्राप्त करके बोला कि “आप प्राण दान देने से मेरे गुरु हैं। इस प्रकार उत्तम नग्न वचन बोल कर तीन प्रदक्षिणायें देकर हाथ जोड़कर सिर से लगा कर सामने खड़ा हो गया और बोला—हे माता! पुत्र एवं शिष्य के योग्य मुझ को जो आज्ञा हो सो दीजिये। कनकमाला चुप रह गयी अर्थात् निरुत्तर हो गई। तब कुमार कुछ ही क्षण में वहाँ से बाहर आ गया।

पाठक गण! इस प्रकरण को विचार करने से ज्ञात होगा कि यहाँ कैसे-कैसे भाग्य और पुरुषार्थ का दाव पेंच चला है। पूर्व कर्मादय से धर्ममाता भी धर्म पुत्र के ऊपर मोहित हो गयी। परन्तु

स्वयं कनकमाला चाहते हुये भी कुमार स्व पुरुषार्थ से इस धर्म संकट से केवल उत्तीर्ण ही नहीं हुआ, बल्कि महाविद्याओं को भी प्राप्त कर लिया। पूर्व कर्मदय के प्रबल स्रोत में भी विवेकपूर्वक प्रवण्ड पुरुषार्थ से कुमार उस अशुभनिकृष्ट पाप कार्य से बच गया, जबकि पुरुषार्थ- हीन कनकमाला अपने शील की मर्यादा का उल्लंघन कर उस पाप कार्य करने के लिये आगे बढ़ी।। किन्तु कनकमाला जब कुमार का सम्भोग प्राप्त नहीं कर सकी, तब वह क्रोध एवं मायाचार से अपने वक्षस्थल, स्तनादि को स्वयं ही नखों से क्षत-विक्षत करके स्वामी को अपना शरीर दिखाती हुई बोली- ‘हे प्राणनाथ ! यह प्रद्युम्न का कृत्य है। मुझे अकेले देख मेरा शील भंग करना चाहा। बस अपने मायाचारी स्वभाव से कुटिल स्त्री की बात सुनकर राजा कुद्ध होकर एकान्त में अपने 500 पुत्रों से कहा कि- “जिस तरह अन्य दूसरों को पता न लगे इस तरह-इस पापी प्रद्युम्न को मार डाला जाय ।”

तदनन्तर पिता की आज्ञा पाकर हर्ष से फूले हुए वह पापी कुमार को बड़े आदर से दूसरे दिन प्रद्युम्न को साथ लेकर कालान्तु नामक वापिका पर गये और एक साथ सब प्रद्युम्न पर कूदकर उसके घात की इच्छा रखते हुए उसे बार-बार प्रेरित करने लगे, कि चलो वापी में जल क्रीड़ा करें। उसी समय प्रज्ञप्ति विद्या ने प्रद्युम्न के कान में सब बात ज्यों की त्यों कह दी। सुनकर प्रद्युम्न को बहुत क्रोध आया और उसी क्षण माया से अपना मूल शरीर कहीं छिपा कृत्रिम शरीर से वापिका में कूद पड़ा। उसके कूदते ही वज्र के समान निर्दय एवं मारने के इच्छुक सब कुमार एक साथ उसके ऊपर कूद पड़े। प्रद्युम्न ने एक को शेष बचा सभी कुमारों के ऊपर पैर और नीचे मुख कर कील दिया और एक भाई को पांच चोटियों का धारक बना खबर देने के लिये कालसंवर के पास भेज दिया।

तदनन्तर पुत्रों का समाचार सुन द्विगुणित क्रोध से देदीप्यमान होता हुआ कालसंवर युद्ध की तैयारी कर सब सेना के साथ पहुँचा। उधर प्रद्युम्न ने भी विद्या के प्रभाव से एक सेना बना ली। सो उसके साथ चिरकाल तक युद्ध कर कालसंवर हार गया और जीवन की आशा छोड़ कर, जाकर कनकमाला से बोला कि- ‘तू मुझे शीघ्र ही प्रज्ञप्ति नामक विद्या दे’।

कनकमाला ने कहा कि “मैं तो बाल्य अवस्था में दूध के साथ वह विद्या प्रद्युम्नके लिये दे चुकी हूँ। तदनन्तर स्त्री की मायापूर्ण दुश्येष्टा को जानकर मानी कालसंवर पुनः युद्ध के मैदान में आकर युद्ध करने लगा और प्रद्युम्न ने उसे बांधकर एक शिलातल पर रख दिया। उसी समय अत्यन्त निपुण नारद जी वहाँ आ पहुँचे। प्रद्युम्न ने उन सबका सम्मान किया तदनन्तर नारद ने सब सम्बन्ध कहा। तदनन्तर राजा कालसंवर को बन्धन से मुक्त कर प्रद्युम्न ने क्षमा मांगते हुये उसने कहा कि माता कनकमाला ने जो भी किया है वह पूर्व कर्म के वशीभूत होकर ही किया है अतः उसे क्षमा कीजिए। उपाय के ज्ञाता प्रद्युम्न ने जिनका कुछ भी उपाय नहीं चल रहा था, ऐसे पांच सौ कुमारों को भी छोड़ दिया और भ्रातृ स्नेह के प्रकट करने में तत्पर हो उनसे बार-बार क्षमा माँगी।

तदनन्तर रुक्मणी और कृष्ण के दर्शन के लिये जिसका मन अत्यन्त उत्सुक हो रहा था ऐसे प्रद्युम्न ने जाने के लिए राजा कालसंवर से आज्ञा माँगी और उसने भी सन्तुष्ट होकर उसे विदा कर दिया। तत्पश्चात् स्नेहपूर्वक पिता को प्रणाम कर प्रद्युम्न द्वारिका जाने के लिये नारद के साथ-साथ विमान द्वारा आकाश में आरूढ़ हुआ। कुमार नारद सहित द्रत्गामी विमान द्वारा स्वदेश में पहुँचकर विद्याबल सौभाग्य एवं पुरुषार्थ से उदधि कुमारी से विवाह किया। माता

रुक्मणी एवं परिवार-परिजन से मिलकर सुख से जीवन-यापन किया। पूर्वकृत सौभाग्य से अनेक सुन्दर कुमारियों से विवाह करके इन्द्रियजनित भोग को भोगकर एवं अन्त में सम्पूर्ण दैवातीत अवस्था को प्राप्त करने के लिए मुनि दीक्षा धारण की। व्यवहार निश्चय रलत्रय रूप पुरुषार्थ से समस्त दुर्भाग्य-सौभाग्य (पाप-पुण्य) को विधंस करके परम पुरुषार्थ रूपी मोक्ष लक्ष्मी को वरण किया।

विज्ञ पाठक ! उपरोक्त प्रकरण से यह अनुभव किये होंगे कि पूर्व सौभाग्य से प्रद्युम्न कुमार का अर्धचक्र के घर में जन्म हुआ। पाप कर्म के कारण बाल्यावस्था में अपहरण हुआ। पुण्य कर्म के कारण शिला को उनसे ऊपर रखने पर भी मरण नहीं हुआ तथा कालसंवर स्वयंसेव आकर प्रद्युम्न को स्वयं के भवन में लेकर पोषण किया। पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म तथा पुरुषार्थ के माध्यम से बाल्यावस्था में ही अनेक विद्याओं को अपने अधीन कर लिया। 500 कुमार प्रद्युम्न कुमार को मारने के लिए सोलह बार षड्यन्त्र किये, परन्तु प्रद्युम्न कुमार भाग्य एवं पुरुषार्थ की प्रबल शक्ति से सोलह ही बार सकटों से पूर्णरूप से सुरक्षित होकर सोलह लाभों को प्राप्त किया। कनकमाला पूर्वोपार्जित कर्म से प्रेरित होकर धर्म पुत्र पर मोहित हो गई। परन्तु प्रद्युम्न कुमार विवेक पूर्वक पुरुषार्थ से उस धर्म संकट से पूर्णरूप से उत्तीर्ण हुआ। इतना ही नहीं कनकमाला से दो विद्याएं भी प्राप्त कर ली। कालसंवर मायाचारिणी कनकमाला से प्रेरित होकर धर्म पुत्र को मारने के लिए अनेक षड्यन्त्र रचे तथा स्वयं युद्ध क्षेत्र में अवतरित हुआ। परन्तु प्रद्युम्न कुमार पुण्य कर्म, धर्म एवं पुरुषार्थ के कारण जय युक्त हुआ। पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म से प्रद्युम्न कुमार को अनेक सुन्दर स्त्रियों एवं भोगोपभोग की सामग्रियां प्राप्त हुई। अन्त में प्रद्युम्न कुमार पूर्णतः देवाधीनता से मुक्त होने के लिए निश्चय जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर अन्तरंग पुरुषार्थ को उत्तरोत्तर वृद्धि किया। अन्त में रलत्रय रूपी पुरुषार्थ से कर्म पर विजय प्राप्त का परमपुरुषार्थ रूप मोक्ष लक्ष्मी को वरण किया।

अध्याय 7

सौभाग्य एवं दुर्भाग्य का विचित्र परिणाम

पूर्वकृत सुपुरुषार्थ एवं कुपुरुषार्थ से जायमान सौभाग्य (पुण्य) तथा दुर्भाग्य (पाप) की प्रचण्ड शक्ति एवं उसके फलों के वर्णन करते हुये पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार उल्लेख किये हैं--

श्रीतीर्थाधिपचकवर्तिहलभूलक्ष्मीशमुख्याः परा

धर्मदिव जगत्वयोत्तमयशः श्वेतीकृताशान्तराः

अद्यापि प्रतपत्यविचितजन्नामान एवं विधा ।

आसन् कम्पितखेचरेश्वरसुरक्षमापालचक्रा अपि ॥१८. ॥

धर्मरत्नाकर अ० १ पृ० ५

जिन्होंने विद्याधर चक्रवर्ती, इन्द्र और राजाओं के समूह को भी कंपित किया है। जिन्होंने प्रतापयुक्त अपने नाम से जगत् को पवित्र किया है तथा जिन्होंने जगत्त्रय में फैले हुए अपने उत्तम यश से दिशाओं के मध्य भाग को धवलित किया है ऐसे श्री तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और लक्ष्मीश (नारायण) आदि पुरुषरत्न सौभाग्य (धर्म) के ही प्रभाव से जगत् में उत्पन्न हुए हैं।

करचरणादौ तुल्ये दृश्यन्ते दुःखदूनमनसोऽन्ये ।

तत्राधर्मः स्फूर्जति सातिशयं निश्चयाज्जगति ॥१९. ॥

इस जगत् में हाथ, पाव आदि के समान होने पर भी कुछ लोग मन में दुःख से व्यथित दिखते हैं। यह निश्चय से दुर्भाग्य अधर्म का ही प्रभाव है।

समेऽपि यत्ने पुरुषाः प्रकृष्टे लभन्त एके हि फलम् विशालम् ।

परे तु कष्टं परितोऽपि पुष्टं समर्थते सदिभरिहप्यदृष्टम् ॥१०।

समान् रूप से महान यत्न करने पर भी कितने ही सज्जनों को प्रचुर सुखरूप

फल मिलता है, किन्तु दूसरों को सब और से कष्ट ही कष्ट प्राप्त होता है। अतः इस शुभाशुभ फल की प्राप्ति में अदृष्ट (दैव) कारण है ऐसा सज्जन समर्थन करते हैं।

**पाथोदाः परिपूर्यन्ति परितः पाथोभिरेतां धरां
काले यत्पवनो वहत्यपि तथा शीतं च तापं क्वचित् ।
तत्रापि प्रतपत्यवारितरसः संसारिधर्मो ध्रुवं
नैवं चेदगमिष्यदेकतमतामौर्भुभुवः स्वस्त्रयी ॥११॥**

योग्य वर्षा-काल में-वर्षा के समय में-मेघ पानी से इस पृथ्वी को चारों ओर से परिपूर्ण करते हैं, योग्य काल में वायु क्वचित् शीतपना और क्वचित् उष्णता को धारण करती हुई बहती है। इस प्रकार मेधादिक जो यह कार्य करते हैं उसमें भी निश्चय से अनिवार्य पराक्रम से संयुक्त उस संसारी प्राणियों के धर्म (पुण्य,) का ही प्रताप समझना चाहिए। कारण कि यदि ऐसा न होता तो तीनों लोक समानता को प्राप्त होजाते सो ऐसा नहीं।

**पतति नरकं प्रायो लोकोऽनिपित्सुरपि ध्रुवं
वृजिनभरतो जानानः संस्तदीयगति यथा ।
नृपतिवनिताधीनं धन्यं परे भुवनार्चितं
सुरपतिपुरं पुण्यवासाः प्रयान्त्यपरे तथा ॥१२॥**

जिस प्रकार नरक में पड़ने का इच्छुक न होकर भी प्राणी पाप भार के कारण उसकी गति को--नरकवेदना को जानता हुआ भी नरक में पड़ता है, उसी प्रकार अन्य पुण्यशालीजन राजा व स्त्री की अनुकूलता, लोकपूज्य धन्य अवस्था को प्राप्त होते हैं, तथा पुण्य के आवास-विशाल पुण्य के धारक-दूसरे कितने ही इन्द्रपुर (स्वर्ग) को प्राप्त होते हैं।

**यथाऽगमध्यक्षसुखे हि धर्मस्तथा परोक्षेऽपि च मोक्षसौख्ये ।
भोगोपभोगादिसुखाय धर्मो मित्रादियत्नोऽपि निमित्तमात् ॥१३॥**

धर्म जैसे प्रत्यक्ष सुख का कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मोक्षसुख का भी कारण है। भोगोपगादि सुखके लिए धर्म (सौभाग्य) ही कारण है। इस सुख के लिए मित्रदिकों का यत्न भी निमित्तमात्र है।

ये वाञ्छन्ति ततोऽकलङ् कपदर्वीं ये त्रैदशं मानुषं
सौख्यं विश्वजैकविस्मयकरं कल्याणमालाधरम् ।
धर्मस्तैरुचितो विधातुमनिशं तस्माद्वैतन्न यत्
छायाछन्नदिगन्तरस्तरुवरो दृष्टो न बीजाद्विना ॥14॥

जो भव्य जीव अकलंक पदवी को-ज्ञानावरणादि कर्म-कलंक से रहित मोक्ष पद को चाहते हैं; जो देवों सम्बन्धी सुख को चाहते हैं, जो मनुष्यगति के सुख को चाहते हैं तथा जो सम्पूर्ण जन को आश्चर्य उत्पन्न करने वाले व जन्मादि पाँच कल्याणरूपी माला को धारण करने वाले सुख को--तीर्थकर विभूति को चाहते हैं उन्हें निरन्तर धर्म का आचरण करना योग्य है। कारण यह है कि धर्म के बिना संसार भय दूर नहीं होगा। ठीक है, अपनी छाया से, दिशाओं के मध्यभाग को व्याप्त करने वाला उत्तम वृक्ष कभी बीज के बिना नहीं देखा गया है। तात्पर्य, जैसे बीज के बिना वृक्ष सम्भव नहीं है वैसे ही धर्म के बिना सुख सम्भव नहीं है।

धर्माज्जन्म कुले कलङ् कविकले कल्यं वपुर्यैवनं,
सौभाग्यं चिरजीवितव्यरुचिं रामा रतिवा परा ।
सामर्थ्यं शरणार्थिरक्षणपरं स्थानं प्रधानं सुखं,
स्वर्निःश्रेयसंभवं वरमपि प्राप्येत किं नो नृभिः ॥15॥

पूर्वाचरित धर्म से निर्दोष कुल में जन्म होता है, शरीर सदा नीरोग तथा तरुण रहता है, दीर्घ आयु से रमणीय सौभाग्य अर्थात् सर्वजनप्रियता प्राप्त होती है, दूसरी रति के समान सुन्दर स्त्री प्राप्त होती है, शरण में आये हुये लोगों के रक्षण में तत्पर ऐसा सामर्थ्य प्राप्त होता है, उत्कृष्ट स्थान की प्राप्ति होती है, तथा स्वर्ग में और मोक्ष में उत्पन्न हुए उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। ठीक है धर्म के द्वारा मनुष्य क्या नहीं प्राप्त करते हैं? अर्थात् धर्मचरण से जीवों को सब ही उत्तम वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

जायन्ते जन्तवो जातौ धर्मात् सिद्धगताविव ।
पापादतीव निन्द्यायामन्ये शवभ्रगताविव ॥16॥

धर्मचरण करने से प्राणी सिद्धगति के समान उच्च जाति में उत्पन्न होते हैं और दूसरे पापीजन पाप से नरकगति के समान अतिशय निन्द्य जाति में उत्पन्न होते हैं।

इश्वाक्वादिसमन्वयेषु विबुधा विश्वार्चनाधामसु
सुत्रामप्रमुखाश्च येषु जननं काइक्षन्ति तेषु स्वयम् ।
जायन्ते नृभवे समेऽपि सुकृतात् केचित् पुनर्दुष्कृता
निन्द्यैरप्यतिनिन्दितेषु सकले तुल्येऽपि लग्नादिके ॥17॥

मनुष्य जन्म के समान होने पर भी कितने ही मनुष्य पुण्योदय के प्रभाव से जिन कुलों में स्वयं इन्द्र- सामानिकादिक देव भी उत्पन्न होने की इच्छा करते हैं उन लोक पूजा के स्थानभूत इक्ष्वाकु एवं कुरुवंश आदि उत्तम कुलों में जन्म लेते हैं और कितने ही मनुष्य अपने दुष्कर्म से समस्त लग्न, मुहूर्त व दिनादिके समान होने पर भी नियं जनों के द्वारा भी निन्दनीय ऐसे नीच कुलों में उत्पन्न होते हैं।

गर्भे केचिदपूर्णस्तपवपुषो बाल्येऽपरे यौवने
रामारम्यतरे तरां निरुपमे धर्मार्थकामक्षमे ।
वृद्धत्वेऽनवनं प्रयान्ति गहनं सर्वत्र कालाननं
यत्तत् पापविजृभितं मतिमतां पूजास्पदैर्वर्णितम् ॥18॥

कितने ही प्राणी अपूर्ण रूप व शरीर से युक्त होते हुए गर्भ में, दूसरे कितने ही बाल्यावस्था में, कितने ही स्त्री के आशय से अतिशय रमणीय प्रतीत होने वाली तथा धर्म, अर्थ एवं काम के सेवन में समर्थ ऐसी यौवन अवस्था में और कितने ही वृद्धावस्था में अनवन-अरक्षण (मृत्यु) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से सर्वत्र जो भयानक काल का मुख खुला हुआ है, यह सब पाप का प्रभाव है, ऐसा बुद्धिमानों की पूजा के स्थानभूत पूज्य पुरुषों के द्वारा कहा गया है।

सेव्यन्ते गर्भवासे भट्बुधधनिभिः केचिदन्ये शिशुत्वे
लोकैरालोक्यमाना अहमहमिक्या बालचन्द्रेण तुल्याः ।
वत्स्यन्तेऽमा शुभार्थैः स्वजनपरिजनैर्यैवने वार्द्धकेऽन्ये
कीर्तिव्याप्तत्रिलोका अपि रिपुनिवहैः पालिताज्ञाः सदैव ॥19॥

कितने ही जीव गर्भवास में ही शूर, विद्वान और धनिकों से सेवित होते हैं। अन्य कितने ही जीव बाल्यावस्था में बालचन्द्र के द्वितीया के चन्द्रमा के समान वृद्धिगत होते हुए लोगों के द्वारा अहमहमिका से-- मे पूर्व मे, मैं पूर्व मे इस प्रकार की आतुरता से देखे जाते हैं, कितने ही जीव तारुण्यावस्था में स्वजन और परिजनों के साथ शुभ धनादि पदार्थों से संयुक्त होकर सुखपूर्वक रहते हैं; तथा उनकी आज्ञा

को शत्रु समूह शिरोधार्य करते हैं, ऐसे कितने ही पुण्यशाली जन अपनी कीर्ति से त्रिलोक को व्याप्त करते हुए वृद्धावस्था में सदैव सुख में रहते हैं।

आनीयन्ते गृहे स्वे कथमपि कैः कैर्नेचितैः संभ्रियन्ते
उत्सार्यन्ते ततोऽन्ये विचलितचित्ताः कैर्न कैरप्यनिष्टैः ।
धन्यास्तदान्त्यनिष्टं परमिह शिष्टा गृहण्ते सर्वथेष्टं
पापानां वैपरीत्यादिमपि कष्टं कस्य वचो विचार्यम् ॥२०॥

पुण्यशाली जीवों को कौन-कौन से मनुष्य अपने घर पर नहीं लाते हैं व उनका समुचित पदार्थों के द्वारा भरण-पोषण नहीं करते हैं? अर्थात् पुण्यात्मा पुरुषों को कितने ही मनुष्य अपने घर पर लाकर उनका उत्तमोत्तम वस्तुओं के द्वारा पोषण किया करते हैं। इसके विपरीत अस्थिरचित पापी प्राणियों को कौन से मनुष्य अनिष्ट वस्तुओं के साथ अपने घर से नहीं निकाल देते हैं? अर्थात् पापी जनों को लोग अपने घर से निकाल दिया करते हैं? प्रशस्त जन यहाँ अनिष्ट का वमन करते हैं, उसे नष्ट करते हैं और शिष्ट जन सर्वथा इष्ट को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार विपरीतता से पापियों को प्राप्त होने वाले शोचनीय कष्ट की वार्ता किससे कही जाय?

नन्या जीयाश्च भूयस्त्विभुवनजननताखण्डलो नित्यमेवं
गन्धवैर्गायमानः सुललितवचनैर्मागधैः पठ्यमानः ।
प्रातः प्रातर्विलासैरपगतसुकृतागोचरैः प्रार्च्यमानो
निद्रामुनिद्रपुण्यस्त्यजति नृपशैर्नम्यमानाद्विप्रपदमः ॥२१॥

आप धनादि से समृद्ध होवें, आपको विजय प्राप्त हो, आप तीनों लोकों की जनता के इन्द्र होवें, इस प्रकार गन्धर्व लोगों के द्वारा पुण्यवान् पुरुष का सदा कीर्तन किया जाता है तथा प्रतिदिन प्रातः काल होने पर भाट लोगों के द्वारा वह पुण्यवान् अतिशय मधुर शब्दों में स्तुत्य होता है तथा पापजनों को अप्राप्य ऐसे विलासों से वह (पुण्य पुरुष) पूजा जाता है। इस प्रकार जिसका पुण्य सदा जागृत है--उदय को प्राप्त है-- वह सैकड़ों राजाओं के नमस्कार को स्वीकार करता हुआ प्रतिदिन प्रातः काल में निद्रा का परित्याग करता है--जागृत होता है।

रे रे पापिष्ठ कुष्ठिन्नलसतममहाराजनिर्लज्जचेट
कष्टं प्रोत्याप्यसे त्वं गृहपतिशयने संवृते रे मयैवम् ।
मञ्चं कश्चिज्जहाति श्रवणपथमनोन्मन्थिर्नां वाचमित्थं
शृण्वन् कुस्वामिचेद्या व्यपगतसुकृतः प्रातरुद्गीयमानः ॥२२॥

कोई पुण्यहीन मनुष्य, “अरे पापिष्ठ कुष्ठिन, अत्यन्त आलसी, महाराज का निर्लज्ज दास, इस धरक मालिक की शय्या समेटने पर मैं तुझे कष्ट से उठाती हूँ” इस प्रकार प्रातः काल में दुष्ट स्वामी की दासी से कहे गये कान और मन को दुःख देने वाले शब्दों की सुनता हुआ शय्या का त्याग करता है--सोने से उठता है।

हच्छोषकासगलगण्डशिरोऽर्तिकुष्ट -
श्लेष्मानिलंप्रभृतिरोगजैर्न जातु ।
लक्ष्म्या भवन्ति सुकृतात् सुचिरायुषश्च
नाप्यल्पमृत्युमिह ते प्रविलोकयन्ते ॥२५॥

पुण्यशाली प्राणी हच्छोष (यक्षा), कास (खाँसी), गण्डमाला, मस्तकशूल, कुष्ट, कफ और बात आदि (पित्त आदि) रोग समूहों से कदापि पीड़ित नहीं होते, इसीलिए वे दीर्घायु भी होते हैं। लोक में वे कभी अल्पमृत्यु को नहीं देखते, अर्थात् उनका अकाल में मरण नहीं होता।

अन्ये समस्तावयवप्रकम्प -
प्रतीनचेष्टाः परिशिष्टकष्टाः ।
इतीव संचिन्तयता न नीता
यमेन हा प्राणिवधोद्यमेन ॥२६॥

इसके विपरीत पापी जन सम्पूर्ण अवयवों में कम्पन्न उत्पन्न होने से किसी भी कार्य के करने में असमर्थ होते हैं। तथा उनको अधिक से अधिक सर्व प्रकार का कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसा विचार करके ही मानों प्राणिवध में उद्यत रहने वाला यम उन्हें नहीं ले जाता है। वे महान् दुःख को भोगते हुए दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं।

रुपिण्ण एव सुकृतेन मदालसाश्च
यूनां मनांसि रमयन्त्य उदग्रकान्तेः ।
भार्या भवन्ति भुवने कृतिनां सुमित्रा
गौर्यः श्रियोऽपि रत्योऽप्युचितैर्विलासैः ॥२७॥

लोक में पुण्यशाली पुरुषों के समुचित हावभावादि विलास से संयुक्त सुमित्रा, गौरी, लक्ष्मी और रति जैसी स्त्रियाँ हुआ करती हैं, जो अतिशय सुन्दर और मद में आलसयुक्त होकर अपनी उत्कृष्ट कान्ति से युवावस्था में उनके मन को रमाया करती हैं।

यत्कोटिसंख्यरिपुदारणसंख्यमध्ये -

उसंख्यातवारमुपलब्धजया भवन्ति ।

यच्चाज्ञैव परिपान्ति नरा जगन्ति

जेगीयते कृतिजनैस्त्तदिदं सुधर्मात् ॥131॥

जहाँ करोड़ों शत्रुओं का विदारण किया जाता है ऐसे भयानक युद्ध में पुण्यवान पुरुष जो असंख्यात बार जयशाली होते हैं तथा आज्ञा मात्र से जो जगत् का संरक्षण करते हैं, वह सब उस उत्तम धर्म का ही प्रभाव है। जो विद्वान् जनों के द्वारा बारम्बार गाया जाता है।

चक्री बाहुबलीश्वरेण तुलितो बाहुदयेनाहवे
कैलासोऽपि च रावणेन जयिना गोवर्धनो विष्णुना ।
यच्चापि प्रसभं पृथातनुभुवा तूर्ण च तीर्णोऽर्णव
स्ताद्विस्फूर्जितमूर्जितं त्रिभुवने सद्धर्मचिन्तामणे: ॥132॥

युद्ध में बाहुबली कुमार ने अपने दो बाहुओं के द्वारा जो भरत चक्रवर्ती को उठाया था तथारावण ने कैलास पर्वत को और जयशाली विष्णु (कृष्ण) ने जो गोवर्धन पर्वत को उठाया था इसी प्रकार पुरुषपुत्र अर्जुन ने जो लवण समुद्र को शीघ्र पार किया था, उन सब को समृद्धिशाली इस त्रिभुवन में सधर्म रूप चिन्तामणि का ही प्रभाव समझना चाहिए।

धराधैर्वारिधिभिः समग्रामभ्युद्धरन्त्येव धरां कृतार्थाः ।
प्रत्यंशुभिस्तूलभिवापरे स्युस्तृणस्य कुञ्जीकरणेऽसमर्थाः ॥133॥

सुकृती-पुण्यशाली-पुरुष पर्वत और समुद्रों सहित समस्त पृथ्वी को प्रत्यंशुओं के साथ रूई के समान उठाया करते हैं, परन्तु पुण्यहीन जन तिनके को भी मोड़ने में समर्थ नहीं होते हैं।

स्याद् द्वात्रिंशत्सहस्रैः प्रणयविनतिभिः सेवितो भूपतीनां
त्रिस्ताविदिभिः सुरस्त्रीविसरविजयिनां कान्तकान्ताजनानाम् ।
रत्नैर्द्विः सप्तसंख्यरनिधनसुधनैः संनिधानैर्निधनै
मर्त्यानां मूर्धवर्ती मणिरिव सुकृतान्निर्मिताच्चक्रवर्ती ॥134॥

स्नेह से नम्र बत्तीस हजार राजाओं से सेवित, देवांगनाओं के समूह को जीतने वाली, छियानवे हजार सुन्दर स्त्रियों से आराधित, तथा चौदह रत्नों एवं अक्षय

उत्तम धन को धारण करने वाली नौ निधियों से सम्पन्न जो चक्रवर्ती मनुष्यों के मस्तक पर स्थित चूड़ामणि के समान होता है वह भी पूर्व जन्म में किये हुए सुधर्म के प्रभाव से ही होता है।

भूपा ब्रजन्ति चतुर्वामरवीज्यमानाः
श्वेतातपत्रधवलीकृतविश्वदेशाः ।
लीलां युनायकभवां च विलम्बमाना
जम्पानयानयतुरङ् गच्छूबृतास्ते ॥136॥

दुरते हुए चंचल चामरों से सुशोभित और श्वेत छत्र के समस्त पृथिवी प्रदेशों को धवलित (श्वेत) करने वाले वे राजा लोग जो इन्द्र जैसी लीला का आलम्बन लेते हुए सुसज्जित पालकी व चतुरंग सेना से हाथी, घोड़ा, रथ और पदचारी सैन्य से वेष्ठित होकर गमन किया करते हैं वह सब धर्म का ही प्रभाव है।

स्ववत्त्वेदस्वन्तीभिरभितोऽप्यचला इव ।

अनिला इव वेगेन धावन्त्यन्ये तदग्रतः ॥136॥

इसके विपरीत जो पापी हैं वे उनके आगे वायु के समान वेग से टौड़ते हैं। उस समय उनके अंग से टपकते हुए पसीने की जो नदियाँ निकलती हैं उनसे वेष्ठित वे पर्वतों के समान प्रतीत होते हैं।

सप्ततुङ्गतलभूमिराजिते चास्तरलचयरोचिरञ्जिते ।

मूर्तपुण्य इव सत्त्वधासिते धम्नि धर्मनितयाः समाप्तते ॥137॥

पुर्वोपार्जित पुण्य के धारक पुरुष मूर्तिमान् पुण्य के समान होते हुए उत्तम चूने से धवल दिखाने वाले, सुन्दर रत्नसमूह की कान्ति से युक्त, ऊँची सात तल भूमियों से शोभायमान महल में आनन्द से निवास करते हैं।

कीलैः खातभृदन्नराशिनिचिता तार्णी कुटी संकटा
वात्यामात्रशा रूजां वशगतैर्वालैः शकृन्मण्डिता ।
द्वारेऽरंकुवता खरेण रचिता वा वाङ्मयी पापिनो
दृष्टा चेश्वरहर्म्यकार्यरतया सम्यक् कदाभर्यया ॥138॥

इसके विपरीत घूसों से खोदी गयी मिट्टीरूप अन्न की राशि से व्याप्त, संकुचित, झङ्घावात से भरी हुई रोग के वशीभूत हुए-रोगी-बालकों के साथ मल से मण्डित और द्वार पर शब्द करने वाले गधे के द्वारा रची गयी कर्कश ध्वनि से परिपूर्ण ऐसी पापी की घास से निर्मित झोपड़ी ईश्वर के गृहकार्य में निरत कुत्सित स्त्री के द्वारा देखी जाती है।

खायं स्वायं शुचिसुरभितं पानकं चापि लेहं
भड्गैरेषामुपचितमलं भुज्जते स्वादु भोज्यम् ।
स्वर्णादीनामिह सुकृतिनः स्थालकच्छोलकेषु
तेषां पुण्यैरमृतमिव यन्निर्मितं सूपकारै ॥39॥

पुण्यशाली जन उनके पुण्य से जिसे रसोइयोंने अमृत के समान निर्मित किया है ऐसे खाय, स्वाद्य, पवित्र और सुगन्धित पानक और लेहा-चाटने योग्य इन चार भेदरूप मध्येर भोजन का उपभोग सुवर्ण, चाँदी आदि की थाली तथा कच्छोलक (प्याला) आदि पात्रों में किया करते हैं।

त्र्यहेषितं तैलघृतब्रताश्रितं करे कृतं नीरसमप्यगौरवम् ।
विधाय कर्माणि धनाद्यभन्दिरे कदन्नमस्ते यदि भुज्जते परे ॥40॥

जो पापी है वे धनाद्यों के घर पर अनेक कार्योंको करके तीन दिन के बासे तथा तेल और धी से रहित नीरस व कुत्सित तुच्छ अन्न को हाथ में लेकर सूर्यास्त के समय खाया करते हैं।

पत्रैर्नागरखण्डपत्तनभवैः कर्पूरवल्प्यादिजैः
पौरीशपुरादि जैर्विरचितं सच्चूर्णसंभावितम् ।
कड्कोलादिफलैरलंकृतमलं कर्पूरवेधोल्वणं
ताम्बूलं भुवि भोगमूलमपरे खादन्ति रामार्पितम् ॥41॥

पुण्यशाली पुरुष नाग खण्ड नामक नगर में उत्पन्न हुए कर्पूरवल्ली व नागवल्ली आदि के पत्रों से रचे गये, ईश्पुर आदिक नगरों में उत्पन्न हुयी सुपारियों से मिश्रित, जिसमें उत्तम चूना लगाया है, कंकोल, इलायची व जायपत्री आदिकों से अलंकृत-सुगन्धित कर्पूर चूर्ण से युक्त ऐसे ताम्बूल को जो कि भोग का मूल कारण है और जो स्त्रियों ने अपने हाथ से दिया है, खाया करते हैं।

नामाप्यन्ये न जानन्ति ताम्बूलमिति भक्षणम् ॥
केन संपाद्यतां तेषां पापोपहतजन्मनाम् ॥42॥

किन्तु पापी लोग तो खाना तो दूर रहा वे तो ताम्बूल का नाम भी नहीं जानते हैं। पाप से जिनका जन्म व्यर्थ हुआ है ऐसे लोगों को ताम्बूल भला कौन देता है? कोई भी नहीं।

वैदूर्यमुक्ताफलपद्मरागरत्नोच्च्या द्वीपसमुद्रजा ये ।
धन्यस्य धामैव च धाम तेषां परं धूनीनामिव वारिशिः ॥43॥

जैसे नदियों का निवास स्थान समुद्र है वैसे द्वीप तथा समुद्र से उत्पन्न हुए इन्द्र-नील मणि, मुक्ताफल व पद्मराग आदि रत्नों के समूह पुण्यशाली पुरुषों के घर को ही अपना घर समझ कर वहाँ रहा करते हैं।

अध्याय 8

जैसा बोओ वैसा काटो

“विचार, भाग्य का ही दूसरा नाम है। तब, आप अपने भाग्य को चुन लीजिये। धैर्य से सफलता की परीक्षा और समृद्धि होगी, धृणा से विफलता और निर्धनता प्राप्त होगी”। “सुन्दर विचार गौरवमय व्यवहार और दयालुता में प्रतिबिम्बित होते हैं। इन्हीं का मूर्तस्तु मेलजोल और प्रसन्नता के रूप में प्रकट होता है”।

यद्यपि मनुष्य यह जानता है कि यह परिनिश्चित है कि जैसा बोयेगा, वैसा काटेगा और यह सर्वथा असम्भव है कि बोयें तो बबूल और फल आम के काटें, परन्तु इस तथ्य से परिचित होते हुए भी व्यवहारिक जीवन में मनुष्य इसे सर्वथा भूल जाता है। क्या यह आश्चर्यजनक तथ्य नहीं है कि मानसिक कृषि करते समय वह इस सत्य को आंख से ओङ्काल कर देता है कि फल वैसा ही होगा जैसा बीज और पेड़ होगा। हम प्रसन्नता, सुख, समृद्धि और सन्तोष की फसल की आशा कैसे कर सकते हैं, जबकि कई वर्षों से हम अपने विचारों में इसके विपरीत प्रभाव वाले बीज बोते रहे हैं? जब हम अपने मन में रोगों के विचार बोते रहे हैं तो आज स्वस्थता का फल कैसे चख सकते हैं।

हम उस किसान को पागल कहें जो कांटेदार झाड़ियां लगाकर उनसे गेहूं प्राप्त करने की आशा करे। परन्तु हम अपने मन में भय के बीज बोते हैं, चिन्ता के बीज बोते हैं, फिक्र के बीज बोते हैं और जब फल बीजों के अनुरूप होता है तो हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

धान के बीज से धान ही हो सकता है, गेहूं के बीज से केवल गेहूं ही पैदा हो सकता है। खेतों की ही भाँति मनुष्य की सफलता भी बीज, श्रम, देखभाल, सिंचन आदि के आधार पर फलीभूत होती है। बीज अच्छा न हो तो खेती भी अच्छी नहीं हो सकती। बीज अच्छा भी हो किन्तु दुर्बल हो तो भरपूर पैदावार नहीं होती।

जो मनुष्य अपने मन में असफलता के विचारों के बीज बोता है वह कभी भी सफलता की फसल प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि वह आशावाद के बीज बोता है, अथाह धन सम्पत्ति के बीज बोता है तो वह इन्हीं की फसल काटेगा।

समन्वय की भावना ‘शक्ति’ है, विरोध और विषमता की भावना दुर्बलता है। निराशा-वादी भावना उन झाड़ियों के समान है जिनके उगने से फसल कमज़ोर पड़ जाती है। हमारे जीवन की समस्यायें कितनी आसान हो जाएं, यदि हम समझ लें कि मन सम्बन्धी सिद्धान्त भी ठीक उसी प्रकार कार्य करते हैं जिस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धान्त या शरीर संबंधी सिद्धान्त। मस्तिष्क में आया हुआ प्रत्येक विचार एक बीज है, जिसकी फसल अवश्य

होती है चाहे वह बीज बबूल का हो या गुलाब का, आक का हो या आम का ।

यदि हम अपने मन में नीच विचारों को बोयेंगे, तो फल भी वैसा होगा, यदि हम अपने मन में असफलता के बीज बोयेंगे तो असफलता ही हाथ लगेगी । यदि हम अपने मन में निर्दिष्ट का विचार बोयेंगे तो निर्धन ही हो जायेगे ।

जीवन रूपी खेती में विचार रूपी बीज के अनुरूप ही उगती है । जब हम किसी स्वार्थी व्यक्ति को देखते हैं तो मुँह फेर लेते हैं । हम जानते हैं कि उसका चेहरा दोषपूर्ण स्वार्थ भावना की फसल है । उसके विपरीत जब हम किसी शांत, प्रेरणादायक, स्मृतिप्रद व्यक्ति का मुखड़ा देखते हैं तो हमें पता चल जाता है कि इस व्यक्ति ने विचार समन्वय की, परोपकार की, सफलता की खेती की है ।

यदि कोई व्यक्ति चाकू लेकर अपना मांस काटने लगे तो मांस के काटने पर, लहू के बहने पर, पीड़ा होने पर उसे अचम्भा नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसने काम ही ऐसा किया है, फिर फल पर आश्चर्य क्यों ? इसी प्रकार यदि मनुष्य क्रोध में दूसरों पर शब्दों का प्रहार करता है तो उसे भी क्रोध भरे वचन सुनने के लिए तैयार रहना चाहिये ।

यदि आप प्रभावशाली व्यक्तित्व बनाना चाहते हैं; यदि आप अपने व्यक्तित्व में चुम्बकीय गुण लाना चाहते हैं, यदि आप ऐसी शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो दासता की हीनावस्था से निकलकर अधिकार के ऊंचे पद पर पहुंचे, यदि आप अपने व्यक्तित्व में आमूल - चूल परिवर्तन करना चाहते हैं तो आज से ही, इसी समय से ही अपने मन में आशा, उत्साह, प्रसन्नता, साहस, परिश्रम, उदारता, मित्रता व सफलता के बीज बो दीजिये । अपने मन को रचनात्मक, क्रियात्मक, विद्येयात्मक बनाइये, तब आपके जीवन में आश्चर्य-जनक परिवर्तन होगा और आपकी सबसे ऊंची आकांक्षा, आपकी महत्वाकांक्षा पूर्ण होगी ।

(ले. स्वेट मार्डन)

अध्याय 9

पुरुषार्थ की अन्तिम विजय

अनादि काल से अनन्त कुपुरुषार्थ सम्पन्न जीव प्रबल दैव के आधीन होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है । जब तक असम्यक्-पुरुषार्थ का सिलसिला चलता रहे गा तब तक दैव की प्रचण्ड शक्ति जीव के ऊपर अनुशासन करती रहेगी । जब यह चैतन्य अनन्त वीर्य युक्त आत्मा अपने पुरुषार्थ को सम्यक् रूप में परिवर्तित करके जागृत होगी तब दैव की शक्ति क्षीण होती जायेगी, जैसे घने अन्धकार भी प्रचण्ड रश्मि के धारी सर्व के उदय से विद्वंस हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक् पुरुषार्थ के माध्यम से दैव की शक्ति विद्वंस होजाती है । आत्मानुशासन में कहा है -

कुबोधरागादि विचेष्टितैः फलं
त्वयापि भूयोजननादिलक्षणम् ।
प्रतीहि भव्यः प्रतिलोम वृत्तिभिः
ध्रुवं फलं प्राप्त्यसि तद्विलक्षणम् ॥ 106 ॥

आत्मानुशासन

Thou hast suffered the consequence of false knowledge, attachment and such evil acts, in the shape of births and rebirths. Be assured that thou will act certainly attain just the opposite result (i.e., liberation) by noble acts of an opposite character (absence of attachment etc.)

हे भव्य ! तूने बार-बार मिथ्याज्ञान एवं रागद्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादिरूप फल प्राप्त किया उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों रूप - सम्यज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल - अजर अमर पद को प्राप्त करेगा ऐसा निश्चयकर । ।

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्तयवृत्तिभ्याम् ।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः । । १८० । ।
' आत्मानुशासन '

राग और द्वेष के द्वारा की गई प्रवृत्ति और शासन निवृति से जीव के बंध होता है तथा तत्त्व ज्ञान पूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृति के द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है ।

देषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहितं तयोर्मोक्षम् ॥181॥

गुण के विषय में की गयी द्वेष, बुद्धि तथा दोष के विषय में की गयी अनुराग बुद्धि इनसे पाप का उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुण के विषय में होने वाली अनुराग बुद्धि और दोष के विषय में होने वाली द्वेष बुद्धि से पुण्य का उपार्जन होता है तथा उन दोनों से रहित - अनुराग बुद्धि और द्वेष बुद्धि के बिना उन दोनों 'पाप - पुण्य' का मोक्ष अर्थात् संवर पूरक निर्जरा होती है।

मोहबीजाद्रतिदेषौ बीजान्मूलाङ् कुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाद्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥182॥

जिस प्रकार बीज से जड़ और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोह रूपी बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं, इसलिए जो इन दोनों (राग - द्वेष) को जलाना चाहता है उसे ज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा उस मोह रूप बीज को जला देना चाहिये

पुराण ग्रहदाशोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक् ।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्धयति रोहति ॥183॥

मोह एक प्रकार का घाव है, क्योंकि वह घाव के समान ही पीड़ाकारक होता है। जिस प्रकार पुराना (बहुत समय का) शनि आदि ग्रह के दोष से उत्पन्न हुआ गहरा, नस से सहित और पीड़ा देने वाला घाव औपचार्युक्त धी (मलहम) आदि से शुद्ध होकर - पीव आदि से रहित होकर भर जाता है, उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादिकाल से जीव के साथ रहने वाला परिग्रह के ग्रहण रूप दोष से उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्) नरकादि दुर्गति का कारण और आकुलता रूप रोग से सहित ऐसा वह घाव के समान कष्टदायक मोह भी उक्त परिग्रह के परित्याग रूप मलहम से शुद्ध होकर (नष्ट होकर) ऊर्ध्वगमन (मुक्ति प्राप्ति) में सहायक होता है।

असम्यक् पुरुषार्थ से उपजे दैव, जीव को बन्धन में डालकर विविध प्रकार कष्ट देता है। परन्तु सम्यक् पुरुषार्थ से उपजे कर्म जीव को अभ्युदय सुख के साथ साथ कर्म बन्धन को काटने के लिए सहायक होता है, जिससे जीव को स्वातंत्र्य सुख मिलता है। जैसे-- चौरी आदि अनैतिक कुपुरुषार्थ करने वाले जीव के साथ पुलिस रहती है और नैतिक देश सेवा आदि सुपुरुषार्थी के पास पुलिस रहती है। चौर के साथ रहने वाली पुलिस चौर को अपने अधीन में रखती है परन्तु मंत्री के साथ रहने वाली पुलिस मंत्री के अधीन में रहती है, चौर को पुलिस बन्धन आदि में डालकर कष्ट देती है, परन्तु मंत्री की रक्षा पुलिस करती है। उसी प्रकार

मिथ्यादृष्टि के कुपुरुषार्थ से जो दैव संचय होते हैं वे उस जीव को बन्धन में डालकर संसार में विभिन्न प्रकार के कष्ट देते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि के सुपुरुषार्थ से संचित सु॒दैव उस जीव को स्वाधीन सुख प्राप्त करने के लिए सहायक होते हैं। भावसंग्रह में देवसेन आचार्य ने कहा भी है : -

समाविद्टी पुण्यं ण होई संसार कारणं णियमा ।
मोक्खस्स होई हेउ जइ वि णियाणं सो कुण्झ ॥1404॥

भावसंग्रह

सम्यक्त्वी का शुभपुरुषार्थ भाग्य का कारण नहीं होता अर्थात् संसार का कारण नहीं होता है। यद्दि वह निदान (भाग्य के अधीन में रहने की इच्छा) नहीं करता है, तो वह भाग्य परम्परा, से मोक्ष के हेतु होता है।

येनांशेन सुट्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥1212॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

जितने अंश में सम्यक्त्वपना (पुरुषार्थी) है, उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बन्धन) नहीं है और जितने अंश में मिथ्यात्व अस्तपुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्याधीन बन्धन है।

जितने अंश में सम्यग्ज्ञान रूप पुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बन्धन) नहीं है और जितने अंश में अज्ञान रूप अस्त पुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्याधीन बन्धन है।

जितने अंश में सम्यक् चारित्र रूप पुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बन्धन) नहीं है और जितने अंश में असम्यक् रूप चारित्र (कुचारित्र) है उतने अंश में दैवाधीन (बन्धन) है।

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥1213॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥1214॥

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप, सुख और दुख में से आत्मा के लिए हितकारक होने से आदि के तीन शुभ, पुण्य एवं सुख के आचरण के योग्य हैं। शेष तीन अशुभ, पाप और दुख अहितकारक होने से छोड़ने के योग्य हैं। शुभ, पुण्य और सुख में से शुभ पुरुषार्थ का परित्याग

करना चाहिये । तब शुभ पुरुषार्थ से उत्पन्न होने वाला पुण्य सुभाग्य एवं उसका कार्य सुख (सांसारिक सुख) ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे । इस प्रकार शुभ पुरुषार्थ को त्याग करके परम पुरुषार्थ में रमण करने से अनन्त में पुरुष अपनी पुरुषार्थ सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।

भाग्य परम्परा से मोक्ष का कारण होने से व्यवहार से (एक दृष्टि से) मोक्ष का कारण माना जाता है, किन्तु एकान्ततः भाग्य ही मोक्ष का कारण मानने पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध नहीं ही सकता है क्योंकि भाग्य के अभाव रूप कारण से एवं परम पुरुषार्थ रूप कारण के सद्भाव होने पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध हो जाता है ।

**शुभाशुभेपुण्य पापे सुखदुःखे च षट्त्रयम् ।
हितमायमनुच्छेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥२३९॥**

आत्मानुशासन

He whose merit and demerit (Karmas) exhaust themselves without bearing fruit is a (true) ascetic. He will never have the Karmic inflow, and will attain liberation.

जिस वीतराग के पुण्य और पाप दोनों फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीर्ण होते हैं वह योगी कहा जाता है और उसके कर्मों का मोक्ष होता है किन्तु आखिय नहीं होता है ।

**पुरुषार्थहीन जीव, भाग्य पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता-
जह वंधे चिंतंतो बंधनबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।
तह वंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ॥ (३१२)**

समयसार

जैसे बंधन से बंधा हुआ कोई पुरुष बंधनों के विषय में विचार करने मात्र से बन्धन मुक्त नहीं हो पाता है वैसे ही जीव भी कर्म बन्धनों के विषय में चिंतन करने मात्र से उनसे मुक्त नहीं हो सकता है ।

**जह वंधे भित्तूण य बद्धो य पावदि विमोक्खं
तह वंधे भित्तूण य जीवो सम्पावदि विमोक्खं ॥३१३॥**

समयसार

**जह वंधे मुत्तूण य बंधन बद्धो य पावदि विमोक्खं ।
तह वंधे मुत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥३१४॥**

समयसार

पुरुषार्थी भाग्य पर विजय प्राप्त करता है-

जैसे बन्धन से बंधा हुआ पुरुष उस बन्धन को काटकर मुक्त होता है, वैसे ही जीव भी कर्मबन्ध को काटकर, भेदकर, तोड़कर ही मोक्ष पा सकता है और किसी प्रकार से नहीं ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्वभ ।

सम दुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ॥

गीता दूसरा अध्याय सांख्ययोग'

हे पुरुष श्रेष्ठ ! सुख दुःख में सम रहने वाले जिस बुद्धिमान पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं करत वह मोक्ष के योग्य बनता है ।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुर ।

कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर ॥ ॥

इस प्रकार बीज अंकुर न्यायवत् अनादि अनन्त असत् पुरुषार्थ एवं भाग्य की परम्परा को परम पुरुषार्थ रूपी अग्नि से जलाकर भस्त्र कर देने के कारण जिस प्रकार अनादि परम्परा मैं चले आये बीज को दग्ध कर देने पर फिर उस बीज से अनन्त काल बीत जाने पर भी अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार भाग्य को दग्ध करने के बाद उस भाग्य से भाग्यांकुर (संसार) पैदा नहीं हो सकता है ।

उपरोक्त सिद्धान्तों से अवगत होता है कि यह संसारी जीव अनादिकाल से दैवाधीन है । जब तक आत्मविश्वास, वीतराग-विज्ञान एवं स्व में रमण करने रूप प्रचण्ड पुरुषार्थ को नहीं करता है तब तक वह दैव के अधीन रहता है । जब स्वयं में निहित सुसुप्तशक्तियों को उजागर करके आत्मविश्वास, स्व - पर विवेक करके, दैविक - शक्ति को नष्ट करने के लिए एवं स्वशक्ति को विकसित करने के लिए पुरुषार्थ करता है, तब दैविक - शक्ति क्षीण से क्षीणतर, क्षीणतम होते हुए पूर्ण रूप से विलीन हो जाती है ।

योहि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्वभ ।

सम दुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

गीता दुसरा अध्याय सांख्ययोग

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुर ।

कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर ॥ ॥

जिस समय परम पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त वह भाग्याधीन (अशुद्ध) आत्मा सम्पूर्ण विभागों से (शुभ, अशुभ, भाग्य से) मुक्त होकर अपने सुदृढ़ निष्कर्म्य चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है तब वह पुरुष कृतकृत्य(स्वाधीन) होता है

अभ्य जीव अनादि से अनन्तकाल तक भाग्याधीन रहता है । मोक्षगामी जीव मिथ्यात्व अवस्था में भाग्याधीन रहता है इसलिए वह अनादि सांत काल तक भाग्याधीन रहता है । सम्यक्त्व के साथ-साथ सम्यक् पुरुषार्थ का शुभारम्भ होता है । इसलिए सम्यग्दृष्टि आंशिक रूप से स्वपुरुषार्थ से दैव की शक्ति क्षीण करते-करते चोदहवे गुणस्थान के चरम समय में दैव की शक्ति को विघ्वस करके सम्पूर्ण पुरुषार्थ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । असम्यक् पुरुषार्थ से दैव बनते हैं और सम्यक् पुरुषार्थ से दैव का नाश होता है । इसलिये पुरुषार्थ की शक्ति कथञ्चित् दैव की शक्ति से अधिक है ।

अध्याय 10

किन्हीं के पैर चुम्बन करता है भाग्य

‘प्रत्येक जाति और प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक क्षण निर्णय का अवश्य आता है, जब वह सत्य और झूठ, बुराई और भलाई के संघर्ष में संलग्न होता है ।’

(लांचेल)

‘प्रबल साहस अवसर से लाभ उठाता है, विचार को तत्काल क्रियाशीलता में बदल देता है, तत्काल योजना बनाकर काम करने में जुट जाता है और दृढ़ संकल्प के साथ कर्तव्य पूर्ति में व्यस्त हो जाता है ।’ (हन्ना मोर)

“चरित्र की दुर्बलता का सबसे मुख्य कारण है - दुविधा ।” (वाल्टेर)

“जिन साधनों से जीवन के निर्माण का हमें अवसर प्राप्त होता है, उनके चुनाव में शिथिलता बरतना और निर्णीत साधनों की पूर्ति में दुविधा और उपेक्षा से काम लेना - ये दो बातें हमारी अप्रसन्नता और कठिनाई के मुख्य कारण हैं ।”

(एडिसन)

“संलग्नता ही समझिये कि कार्यारम्भ का आधा भाग कर चुकता है, शेष आधे को आरम्भ कीजिये तो बस, वह हुआ मानिये ।”

(आसोनियस)

डॉक्टर जॉनसन का कथन है, ‘जितना समय आप इस निर्णय में व्यतीत करते हैं कि आपका बालक दो में से कौन-सी पुस्तक पढ़े, उतनी देर में अन्य बालक दोनों पुस्तकें पढ़ चुकता है ।’

जोन ऑव आर्क की सफलता का रहस्य यह था कि वह प्रश्न समझते ही तत्काल उसके समाधान में जुट पड़ती थी । उसकी शक्ति एवं दृढ़ता उसके विचारों अथवा साहस में नहीं थी अपितु निर्णय में निहित थी । उसने चार्ल्स सप्तम को ईश्वर के नाम पर सम्राट पद के लिये घोषित कर दिया और अंग्रेजों पर विजय पाकर उस घोषणा की पुष्टि कर दी ।

कोलम्बस सफल रहा क्योंकि उसका संकल्प दृढ़ था । ध्येय उसका कुछ भी रहा हो वह चलते रहने और बढ़ते रहने का था । उसने युवावस्था के ध्येय को मन में पाला-पोसा था और वह ध्येय उसका आवेश बन गया ।

हम बहुत से युवा स्त्री पुरुषों से परिचित हैं जिनके जीवन बिना किसी चप्प-पतवार के निराधार और सिद्धान्तहीन करते चले जाते हैं । वे अपना जीवन नित्यप्रति की परीस्थितियों के सहारे छोड़ देते हैं । उनके सामने कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं होता कि समस्त शक्तियाँ बढ़ाएका

किसी प्रयोजन की सिद्धि में लगायें। उनके मस्तिष्क में विचारों का ढेर वैसा ही होता है जैसे किसी सन्दूक में ओजारों का ढेर लगा हो। जिस व्यक्ति का कोई ध्येय या प्रयोजन नहीं वह न तो लाभकारी ही हो सकता है और न ही वह प्रसन्न हो सकता है।

मस्तिष्क में यदि कोई रूपरेखा नहीं है तो संगमरमर पर दी गई एक ही चोट से प्रतिमा का आकाश बिंगड़ जायेगा। बिना निर्णय लिये कि प्रतिमा कैसी रची जायेगी, एक चोट भी पथर पर कदापि नहीं लगायें। कुछ लोगों का विचार है कि यदि वे पथर पर दिन भर चोटें लगाते रहेंगे तो अवश्य कुछ न कुछ कर दिखायेंगे, लेकिन यह धारणा गलत है। अच्छा यही है कि पथर को टुकड़ों में न बदलकर छैनी-हथौड़ा एक ओर रख दें और पहले रूपरेखा मन में बनायें।

जिस व्यक्ति का जीवन निरुद्देश्य होता है और जो परिस्थितियों की धारा के साथ वह जाता है, उसका आचरण कभी विश्वसनीय नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति की जीवन की नौका कभी भी किसी गहरे पानी में नहीं पैठ सकती। ऐसा व्यक्ति किसी जाति या समिति में प्रसिद्ध नहीं पा सकता। उसके विषय में यह भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि कल वह क्या करेगा? वह तो उस नौका की भान्ति है जो बहते-बहते भाग्य से किनारे भी जा लगे या किसी चट्टान से टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो जाये, अथवा इधर-उधर भटकती रह जाए।

दुविधा, लड़खड़ाहट, दुलमुल, डगमग प्रवृत्ति के कारण शानदार से शानदार मस्तिष्क का भी सत्यानाश हो जाता है। औपनिवेशिक अन्धे युग में यदि अमेरिका की ऐसी हालत होती तो उसकी स्वतन्त्रता असम्भव थी। इतिहास में इतना प्रबल साहस और ऐसा महान निर्णय कभी नहीं देखा गया जैसा कि विधान-निर्माताओं और स्वतन्त्रता अधिनियम पर हस्ताक्षर करने वालों ने दिखाया, क्योंकि तभी अमेरिकन स्वतन्त्रता की आधार शिला रखी गई थी।

जीवन सागर के तटों पर चारों और चट्टानों और रेतीले टीलों पर चढ़े हुए ऐसे-ऐसे जहाज दिखाई पड़ते हैं जो देखने में उत्तम कोटी के और दृढ़ सामग्री से निर्मित लगते हैं किन्तु सत्य यह है कि धारा में बहने की उनमें तनिक भी शक्ति नहीं। कोई विचारों के भंवर में फैस गया तो कोई कल्पनाओं के जाल में उलझ गया; कोई मृगतृष्णा की बालू में फैस गया तो कोई बाधाओं की उलझन में अटक गया।

वह व्यक्ति कितना भाग्यशाली है जिसका मनोमस्तिष्क भ्रमजाल से मुक्त और मिथ्या विचारों से उच्छ्वस है, जो आरामतलबी से घृणा करता है, विरोध पर खिलखिलाता है, जो अपने भीतर कर्तव्य के लिये संकल्प लिये हुए है, जिसे अपने सौभाग्य पर विश्वास है, जो यह भरोसा लिये हुये है कि उसमें इच्छानुसार काम करने की शक्ति है, जो तिरस्कार से हारता नहीं और प्रशंसा से भड़क नहीं उठता।

विलियम पिट इंगिलिस्तान का प्रधानमन्त्री था और ध्येय में संलग्नता तथा उद्देश्योन्मुखता के लिए एक उत्कृष्ट उदाहरण रहा। शैशव में ही उसे यह विश्वास हो गया कि जनता की निगाहें उसी की ओर लगी हैं कि, वह बड़ा आदमी बन कर अपने महान पिता का सुयोग्य पुत्र प्रमाणित हो। उसकी सम्पूर्ण शिक्षा का यही मूलाधार था। आयु के बाईसवें वर्ष वह संसद में प्रविष्ट हुआ, एक वर्ष में अर्थमन्त्री बन गया और अगले दो वर्ष पश्चात् वह इंगिलिस्तान का प्रधानमन्त्री बन गया। दृढ़ संकल्प का यह उदाहरण कितना प्रेरक है! उसने पढ़ाई समाप्त करके जीवन

के कई वर्ष यह सोचने में नहीं गँवाए कि अब उसे क्या करना है, अपिनु सीधा अपने उद्देश्य की ओर बढ़ा और उसने उसे आलिंगन में बांध लिया।

डाक्टर विलियम मैथ्यूस का कथन है 'प्रत्येक दस जनों के समूह में नौ ऐसे होते हैं जो अपनी योजनायें विशाल पैमाने पर बनाते हैं मगर करते कुछ नहीं हालांकि उनमें से कई सब कुछ करने योग्य हैं। कारण यह होता है कि वे अपने विचारों को संकल्प में ढालने का इरादा ही नहीं करते। यही कारण है कि हमारे चारों ओर ऐसे लोगों की भीड़ लगी रहती है जो असफलताओं से घिरे रहते हैं।'

मानसिक तौर पर कोई कितना भी सन्तुलित और सशक्त क्यों न हो, यदि उसमें संकल्प शक्ति और शीघ्र निर्णय लेने की प्रवृत्ति नहीं तो वह कभी महान कार्य नहीं कर पाएंगा। काम के दोनों पक्षों पर ध्यान दे कर भी जो निर्णय नहीं कर पाता वह सफलता कैसे प्राप्त कर सकता है? दोनों पक्ष कभी-कभी एक दूसरे से उत्कृष्ट होते हुए प्रतीत होते हैं और दोनों में से एक का चुनाव करना अनिवार्य हो जाता है; किन्तु यह चुनाव भी दृढ़ इच्छा शक्ति के बिना सम्भव नहीं है।

सफलता के अभिलाषी के कानों में निरन्तर यही ध्वनि आती रहनी चाहिये "सावधान" रे मानव! आज सर्तकता से काम लें। दुविधा तो पागलपन है।"

एमोस लॉरेन्स ने एक स्थान पर कहा है, "हमारी समस्त सफलता का रहस्य यह है कि हमने तत्काल जुट जाने का स्वभाव बना लिया था और अवसर को उसकी शिखा से पकड़ लेते थे; लेकिन दूसरों का स्वभाव था कि वे शिथिलता में पड़े रहते और अन्तोगत्वा हाथ मलते रह जाते।"

किसी ने सिकन्दर से पूछा कि तुमने देश - पर - देश कैसे जीत लिये? उत्तर में उसने कहा, "दुलमुल नीति त्यागकर मैं विजेता बना।"

नेपोलियन नाजुक अवसर पर कभी झिझक से काम नहीं लेता था। जिस ढंग को वह बुद्धिमत्ता पूर्ण समझता, उसी पर संलग्न हो जाता और अन्य विचार एक और रख कर तर्क जाल में स्थायं को न फँसने देता। जिनमें निर्णय लेने की ऐसी शक्ति होती है वह तत्काल उचित मार्ग का चुनाव करके उस पर चल पड़ते हैं और सफलता के शिखर पूकर रहते हैं। इसी के बल पर नेपोलियन समस्त यूरोप का स्वामी रहा। बाटर्लू में उसे पराजय मिली तो इसका कारण यही था कि द्रुत निर्णय की विधि पर न चल पाया।

निर्णय की दृढ़ता के लिये एक उदाहरण एक सुप्रसिद्ध हत्या के अभियोग में ज्यूरी की राय का दिया जा सकता है। 99 सदस्य तो मृत्यु दण्ड के पक्ष में थे, किन्तु एक मात्र सदस्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा, 'मैं कदापि आपसे सहमत नहीं होऊगा, इसकी अपेक्षा कि जिसे मैं निरपराध मानता हूं, उसे फौसी दी जाये, मैं यही बेहतर समझता हूं कि मुझे बन्दी बनाकर भूखों मारा जाये।' अन्य सदस्य अपनी ही बात पर अड़े हुए थे, किन्तु चौबीस घन्टे तक प्रतीक्षा करके, यह देख कर कि बारहवें सदस्य उनके निर्णय से सहमत नहीं है, उन ग्यारह सदस्यों ने भी अपना निर्णय बदल दिया और हत्यारे को निरपराध मान लिया।

निर्णय हमें शा सोच समझ कर लेना चाहिए। निर्णय तो मुख्य भी कर सकता है, किन्तु उसका परिणाम विनाश ही होगा। हठधर्मी और मानवीय निर्णय में बड़ा अन्तर है।

सुसंस्कृत इच्छा शक्ति द्वारा आत्मविश्वास पैदा होता है और उसके अनुसार काम करने की शक्ति पैदा होती है। कई अवसर ऐसे आते हैं जब तत्काल निर्णय की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि व्यक्ति जानता है कि वह निर्णय सूझ-बूझ से नहीं किया गया और न ही तर्कों की कसाई पर खरा बैठता है परन्तु समय की महत्ता को टाला नहीं जा सकता ऐसे समय पर व्यक्ति को अपने अनुभव ज्ञान और सूझ-बूझ की समस्त शक्तियों केन्द्रित करके निर्णय लेना चाहिए।

फैनी फर्न (श्रीमति जेम्स पार्टन) लिखती हैं, “जब मैं युद्धकाल में जनरल चेलर के साथ थी तो मुझे उनके शीघ्र निर्णयों पर बड़ा आश्चर्य होता था। उनके शिवर में बड़े महत्वपूर्ण मामले आते थे और जनरल महोदय विचार शक्ति के आतशी शीशे में केन्द्रित हो कर तत्काल निर्णय पर पहुँच जाते थे। एक बार निर्णय लेने पर लगता कि अब वे उसके विषय में सर्वथा निर्लिप्त हो गए हैं।”

एक पिता के दो पुत्र किसी अत्याचारी की सेना ने बन्दी बना लिये। पिता ने उन्हें मुक्त कराने का याल किया और कुछ रूपये के साथ अपने प्राण बदले में रखे। उत्तर मिला कि दोनों बाते स्वीकार करने पर भी केवल एक पुत्र को मुक्त किया जायेगा; किन्तु किसे मुक्त करना है यह सोच लो। विपत्ति ग्रस्त पिता ने एक प्राण रक्षा को ही बहुत माना। किन्तु वह यह निर्णय न कर सका कि किसे बचाए और किसे मरने दे! वह इसी दुविधा में रहा और दोनों युवक मारे गये।

दुविधाग्रस्त लोगों के सुधरने का एक ही रास्ता है - सदा शीघ्र निर्णय लेने की आदत बनाएं, तर्कजाल में न पड़ें, न विचारों को एक दूसरे पर विशेषता देने में समय गवाएं, बस दो टूक निर्णय, और उस पर अमल शुरू हो जाना चाहिए। जब तत्काल निर्णय लेने की आदत पर अभ्यास किया जाएगा तो धीरे - धीरे अपने निर्णय पर भरोसा भी सुदृढ़ होता जाएगा और आत्मनिर्भरता की नई हिम्मत जाग उठेगी।

विलियमबर्ड का कथन है, “जो व्यक्ति इस दुविधा में रहता है कि दो में से पहले कौन सी बात की जाय, वह कभी कुछ नहीं कर सकता। जो व्यक्ति संकल्प करता है और किसी का विरोधी विचार सुनते ही अपना संकल्प बदल देता है, वह कभी महान और लाभकारी काम नहीं कर सकता। वही लोग अपने अध्यवसाय में सफल होते हैं जो बुद्धिमत्ता से परामर्श करके दृढ़ संकल्पी बनते हैं और फिर गौरवमय होकर बिना छोटी-मोटी कठिनाइयों से घबराए अपने लक्ष्य की ओर पदार्पण करते हैं।

इच्छाशक्ति के लिए दुविधा एक भयंकर रोग है। शेक्सपीयर का ‘हेमलेट’ इसी रोग का एक उदाहरण है। वह सभी पक्षों पर ध्यान देने में उलझा रहता था और कोई निर्णय लेने में असमर्थ रहता था।

बहुत से व्यापारी मात्र इसलिये लाभ कमा लेते हैं कि वे भारी हानि उठाने के लिए तैयार हो जाते हैं मगर अपने निर्णय पर अटल जमे रहते हैं।

हमें तो अन्तिम निर्णय की आदत इतनी अनिवार्य प्रतीत होती है कि यदि लिये गये निर्णय

के कारण हानि भी उठानी पड़े तो तैयार रहें। किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए अनुचित संकल्प के कारण हुई हानि अधिक नहीं होती। जिस व्यक्ति के निर्णय सदा गलत रहें उसे अपरिपक्व अथवा दिमागी रूप से पागल ही कहा जा सकता है। शीघ्र निर्णय की आदत में यदि विचार परिपक्वता और तार्किक स्वच्छता से काम लिया जाए तो कोई कारण नहीं कि परिणाम अनुकूल न हों।

एक ज्ञानी पुरुष की मान्यता है, ‘किसी एक व्यक्ति को रोशनी दिखाना अच्छा है, बजाय इसके कि सारी सुष्ठि को आलोकित करने के स्वप्न ही देखें।’

एप्टीटम के युद्ध से विजय होते ही प्रेजिडेंट ने अपने मंत्रीमण्डल से कहा, “स्वतन्त्र नीति पर स्पष्ट घोषणा को अब स्थगित नहीं किया जा सकता।” उसका मन कहता था कि जनसाधारण उस नीति का अनुमोदन करेंगे। उसने ईश्वर के चरणों में यह वचन लिया था कि यदि ‘लो पेन्सिलवेनिया से हटाया जा सका तो वह दास-प्रथा को समाप्त कर उन्हें मुक्ति की सांस लेने देगा।

यदि कोई व्यक्ति संकल्पी की बारम्बार पराजय से अपनी इच्छा शक्ति पर विश्वास ही छोड़ दे तो इससे बढ़कर चरित्र के विनाश की युक्ति क्या होगी।

“मैं याद रखूँगा (जब सीजर कहता है) कि काम करो, और वह हो गया। (शेक्सपीयर)

‘निकृष्टम बहसबाजी वह है जो व्यक्ति आत्मा के न्यायालय में करता है।’ (बीचर)

“तीव्रता की अपेक्षा अधिक बुरी बात है दुविधा। जो व्यक्ति लक्ष्य वेध का अभ्यास करता है, वह अवश्यमेव सफल होकर रहेगा। अनभ्यस्त भला क्या लक्ष्य-वेध करेंगे।” (फेल्थम) स्वेट मार्डन।

अध्याय 11

हिन्दू धर्म में वर्णित दैव और पुरुषार्थ

कर्म सिद्धान्त को विभिन्न प्रकार से प्रत्येक धर्म-दर्शन, तत्त्व-चिन्तक मानते हैं। राजर्षि भर्तुहरि शतक में कर्म एवम् कर्मफल का साहित्यिक, अलंकारिक, नीति पूर्ण प्रभावकारी बहुत ही सुन्दर छटा में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं:-

दैव का फल

सर्व विवर्तोत्तीर्ण यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धमापन्नः ॥111॥
पुरुषार्थ सिद्धियुपाय

सज्जनों ! देखो, जिस पिटारी में सौंप बन्द था और भूख से व्याकुल था, उस पिटारी में रात्रि में चूहे ने प्रवेश किया और उसमें जाकर वह उस भूखे सौंप का आहार बन गया। वह सौंप भी उसके मौस से तृप्त हो कर उसी छिद्र के मार्ग से निकल भागा। इससे मालूम होता है कि प्राणियों की वृद्धि तथा क्षय होने में भाग्य ही कारण है ॥185॥

भाग्नाशस्य करण्डपीडिततनोम्लनेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्याऽखुविवर स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तिप्यशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौक्षये कारणम् ॥185॥
नीतिशतक पृ० 113

साक्षात् वृहस्पति जिसके नेता हैं, वज्र जिसका अस्त्र है, देवगण जिसके सैनिक हैं, स्वर्ग जिसका किला है, ऐरावत जिसका हाथी है इस तरह सर्वविध ऐश्वर्य तथा बल से सम्पन्न भी इन्द्र जब युद्ध में शत्रुओं से हार गया तो इससे यही प्रतीत होता है कि दैव ही रक्षक ठीक है, निरर्थक पौरुष को अनेक बार धिक्कार है।

गंजा (जिसके सिर पर बाल नहीं) हुआ आदमी सूर्य की किरणों से बचने के लिए छाया युक्त स्थान को खोजता हुआ ताढ़ के पेड़ के नीचे आया, वहाँ भी एक बड़े फल के गिरने की आवाज के साथ उसका सिर फट गया। ठीक है भाग्यहीन पुरुष जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ विपत्तियाँ भी पहुँचती है ॥191॥

नेता यस्य वृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुरा: सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरावणो वारणः ।
इत्येश्वर्यवलान्तितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे
तदव्यक्तंवरं मेवदैवशरणधिग्निवृथा पौरुषम् ॥189॥

सूर्य चन्द्रमा का राहु ढारा ग्रसा जाना, हाथी और सांप का बौंधा जाना और विद्वानों की दरिद्रता आदि को देखकर मैं यहीं समझता हूँ कि भाग्य ही बलवान है

खल्वाटो दिसेश्वरस्य किणैः सन्तापिते मस्तके ।
घाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्न सशब्दं शिरः
प्रायोगच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥191॥

ब्रह्मा की कितनी बड़ी मूर्खता है कि वह गुणों के समस्त आकार और पृथ्वी के भूषण स्वरूप जिस पुरुष रत्न को उत्पन्न करता है उसी को थोड़ी देर में नष्ट होने वाला बना देता है।

शशिदिवाकरयोग्रहपीडनं
गजभुजंगमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमताञ्चविलोक्यदरिद्रितां
विधिरहोबलवानितिमेमतिः ॥192॥

यदि करील वृक्ष में पते न लगें तो इसमें वसन्त ऋतु का क्या दोष ? यदि दिन में उल्लू को न दिखाई दे तो इसमें सूर्य का क्या दोष इन बातों को देखने से मालूम पड़ता है कि विधाता ने ललाट में पहले जो लिखा रखा है, उसको कोई मिटा नहीं सकता।

सृजति तावदशेष गुणाकरं
पुरुषरत्नमलडकरणं भुवः ।
तदापि तत्क्षणभर्गे करोति
चेदह्न कष्टमपणितता विधेः ॥193॥

पत्रं नैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य कि
नोलुकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् । ।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेषस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥ १९४ ॥

हम लोग देवताओं को नमस्कार करते हैं, पर वे भी दुष्ट विधि के ही अधीन हैं, इसीलिए यदि हम विधाता को नमस्कार करते हैं तो वह विधाता भी स्वतन्त्रतया हमको फल देने में समर्थ नहीं है, कर्म के अनुसार फल ही देता है, इसिलिए जब फल कर्म के ही अनुसार मिलता है, तब हमें क्या मतलब देवताओं से और क्या मतलब विधाता से? उस कर्म को ही क्यों न नमस्कार करें, जिस पर विधाता का भी कोई वश नहीं चलता है।

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्यं सोऽपि प्रतिनियतकर्मेकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं कितमरगणैः किञ्च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ १९५ ॥

जिसने ब्रह्माण्ड रूपी बर्तन के भीतर ब्रह्मा को कुम्हार की तरह नियुक्त किया, विष्णु को दशावतार ग्रहण करने रूप महाविपत्ति में डाल दिया, जिसने महादेव को भी हाथ में खाप्पर लेकर भीख माँगने को बाध्य किया और जिसके कारण सूर्य को भी आकाश में नित्य भ्रमण करना पड़ा उस कर्म को ही नमस्कार है।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतार गहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भास्यति नित्यमेन गगने तस्मे नमः कर्मणे ॥ १९६ ॥

मनुष्य को ही फल देने वाली न तो उसकी सुन्दर आकृति है, न उसका ऊँचा कुल है, न सत्स्वभाव है, न विद्या है, न परिश्रमपूर्वक की गई स्वामी सेवा ही है, किन्तु पूर्व जन्म में फिर गए तप से संचित भाग्य ही, समय आ जाने पर वृक्ष की तरह फल दिया करता है।

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्याऽपि नैव न च यत्कताति सेवा ।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सचित्तानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥ १९७ ॥

पूर्व जन्म में किया हुआ पुण्य ही, पुरुष की बन में, रण में, शत्रुओं से घिर जाने पर, जल में, अग्नि में, महासमुद्र में, पर्वत की चोटी पर, सुप्तावस्था में, असाधानी में और संकटकाल आ जाने पर रक्षा किया करता है ॥ १९८ ॥

वने रणे शत्रु जलाग्निमध्ये
महाणवि पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थिते वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥ १९८ ॥

हे महापुरुष! वांछित फल प्राप्ति के लिये जो दुष्टों को सज्जन, मूर्खों को विद्वान, शत्रुओं को मित्र, आँखों की ओट में स्थित वस्तु को आँखों के सामने और विष को तत्काल अमृत बना सकती है, उसी एकमात्र सक्रिया रूपी भगवती की आराधना करो।

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्देषिणः
प्रत्यक्षकुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सक्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितम्
हे साधो व्यसनैर्गुणेषुविपुलेष्वास्थां वृथामाकृथाः ॥ १९९ ॥

जिस मनुष्य ने पूर्व जन्म में अत्यधिक पुण्य किया है, उनके लिए भयंकर वन भी राजधानी बन जाती है, समस्त लोग सज्जन हो जाते हैं, सारी पृथ्वी खाजानों और रत्नों से भरपूरी हो जाती है।

भीमं बनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा
यस्यासिपूर्वसुकुंतं विपुलं नरस्य ॥ ११०३ ॥

मनुष्य को सुख-दुःख उनके पूर्वकृत कर्म के अधीन हैं और बुद्धि भी कर्म के अनुसार कार्य किया करती है। फिर भी बुद्धिमान को समझ बूझ कर कार्य करना चाहिए।

कर्मायत्तं फलं पुम्सां बुद्धिः कर्मानुसारिणी
तथापि सुधिया कार्यं कर्त्तव्यं सुविचारतः ॥ ११० ॥

विद्वान् को उचित है कि भला या बुरा कर्म करने के पहले ही उसके परिणाम को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये । बिना विचार किए जल्दीबाजी में किये कर्म का फल मरण पर्यन्त हृदय को जलाने वाला होता है और कॉटी की तरह चुभा करता है ।

स्थल्यां वैदूर्य्यां पञ्चतितिलकणां चान्दनैरिन्धनायैः ,
सौवर्णैलङ्गैश्चापैर्विलिखिति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ।
छित्वाकर्पूरखण्डान्वृतिमिहकुरुतेकोद्रवाणां समन्तातः
प्राप्येमां कर्मभूमिं चरति न मनुजो यस्तपो मन्दभाग्य ॥101॥

जो अभाग मनुष्य इस कर्मभूमि संसार में जन्म लेकर तप नहीं करता है, वह मरकत (पन्ना) रल से बने हुए पात्र में चन्दन की लकड़ी से तिल के दानों को पकाता है, आक के पेड़ की जड़ का पता लगाने के लिए सोने के हल से पृथ्वी को जोतता है और कपूर के टुकड़ों की तोड़ फोड़ कर कोदों के खेत में चारों ओर डॉड बाड बनाता है ।

अध्याय 12

भाग्य (कर्म) का वैज्ञानिक विश्लेषण

विश्व शाश्वतिक अनादि-अनंत है । इस शाश्वतिक विश्व में संचरण करने वाले जीव भी अनादि से हैं । विश्व में जीवों को परिभ्रमण करने का जो कारण है वह है 'कर्म' । बिना कर्म के संयोग से जीव की वैचित्र्यपूर्ण विभिन्न अवस्था, गति विधि नहीं हो सकती । संसार अनादि होने के कारण संसार में संसरण करने वाले संसारी जीवों के कर्म भी अनादि हैं परन्तु जो भव्य है, वह अनादि परम्परा से प्रवाहमान कर्म को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करके निष्कलंक, सिद्ध, बुद्ध बन जाता है । इसलिये भव्य जीव की अपेक्षा कर्म अनादि होते हुये भी सान्त हैं । परन्तु जो अभव्य जीव हैं, जो कभी भी कर्मों के बन्धनसे विमुक्त होकर शाश्वतिक सुख का अनुभव नहीं कर सकते, उनकी अपेक्षा कर्म अनादि अनंत हैं ।

कर्म को प्रायः प्रत्येक दार्शनिक एवं धार्मिक परम्परा स्वीकार करती है । कोई कर्म को भाग्य कहता है, तो कोई अदृष्ट, अन्य एक पूर्वकृत । अन्यान्यदर्शन कर्म को स्वीकार करते हुए भी और उसका प्रतिपादन करते हुए भी जैन धर्म में जो सूक्ष्म वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण गणितिक विस्तृत वर्णन पाया जाता है, वैसा वर्णन मुझे अन्य किसी दार्शनिक या धार्मिक साहित्य में देखने को नहीं मिला । जैन दर्शन कर्म को केवल एक भावात्मक संस्कार स्वीकार नहीं करता है, अपरंच भौतिक (पौद्गलिक, जडात्मक, रसायनिक, जैविक रसायनिक) संस्कार (संश्लेषण-बन्धन, संयोग) भी मानता है । जिस समय में जीव अज्ञान, ईर्ष्या, काम-क्रोधादि के वशीभूत होकर कुछ मन, वचन या काय से कार्य करता है, उस समय में जीव के सम्पूर्ण आत्म प्रदेश में परिस्पन्दन होता है । उस परिस्पन्दन से आकर्षित होकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त कर्म वर्गणाओं में से कुछ वर्गणायें आकर्षित होकर आती हैं इसको कर्मस्विव कहते हैं । यह कार्मण वर्गणा भौतिक (पौद्गलिक परमाणुओं के समूह स्वरूप) होती है । रागद्वेषादि कथाय भाव से, आकर्षित हुई कर्म वर्गणायें आत्मा के असंख्यत प्रदेश में संश्लेषरूप से मिल जाती है इसको कर्मबन्ध कहते हैं । जैसे — धन-विद्युत् एवं ऋण विद्युत् से आवेशित होकर के लौह खण्ड, चुम्बक रूप जब परिणमन करता है तब स्वक्षेत्र में स्थित योग्य लौह खण्ड को आकर्षित करता है । उसी प्रकार राग (धनात्मक आवेश, आसक्ति, आकर्षण) द्वेष (ऋणात्मक आवेश, विद्वेष, विकर्षण) से आवेशित होकर जीव भी स्वयोग्य कार्मण-वर्गणाओं को आकर्षित करके स्वप्रदेशमें संश्लेष रूप से बांधता है, और कुछ यहां ज्ञातव्य विषय यह है कि अनेक कार्मण वर्गणायें शरीर के भीतर आत्मप्रदेश से स्पर्शित होकर भी रहती हैं, परन्तु वे कार्मण वर्गणायें भी तब तक जीव के योग और उपयोग से प्रभावित नहीं होती तब तक बन्धरूप में परिणमन करके कर्म अवस्था को प्राप्त नहीं करती है । उनमें से कुछ वर्गणायें सामान्य वर्गण हैं, तो कुछ वर्गणायें उम्मीदवार (प्रत्याशी) हैं । जैसे — देश के सामान्य नागरिक होते हैं, तो उसमें से कुछ नागरिक एम० एल० ए०, एम० पी० बनने के लिए प्रत्याशी होते हैं । जब नागरिकों से मत (वोट) प्राप्त करके जययुक्त होते हैं, तब वे एम० एल० ए०, एम० पी० मन्त्री बन जाते हैं । मन्त्री आदि बनने पर सामान्य नागरिक से अधिक सत्ताधरी होकर दूसरों

पर अनुशासन करते हैं। उसी प्रकार सामान्य वर्गणायें सामान्य नागरिक के समान होती हैं। जब राग-द्वेष रूपी मत प्राप्त कर लेती हैं तब विशेष शक्तिशाली होकर जीव के ऊपर ही अनुशासन चलाती है। जैसे — सामान्य नागरिक मत प्राप्त करके विभिन्न विभाग के मंत्रीआदि बनते हैं, उसी प्रकार कार्माण वर्गणायें राग-द्वेष आदि मत प्राप्त करके ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत कर लेती हैं। एक समय में, एक साथ एक दो परमाणु कर्म रूप में परिणमन नहीं करते, इतना ही नहीं करोड़ों-अरबों, संख्यात असंख्यात, अनंत परमाणु भी कर्म रूप में परिणमन नहीं करते हैं, अपितु अनंतानंत परमाणु कर्म रूप में एक साथ परिणमन करते हैं। जिस समय में कर्म बंधता है उस समय में आत्मा के एक दो या करोड़ों-अरबों प्रदेश में एक साथ नहीं बंधते, किन्तु जब कर्म बंधेंगे तब सम्पूर्ण आत्मा में एक साथ ही कर्म बंधते हैं। प्रत्येक जीव के मध्य के आठ आत्म प्रदेश चलायमान नहीं होने पर भी कर्म बन्धन से सहित ही हैं क्योंकि अन्यान्य आत्म प्रदेश में जब परिस्पन्दन होता है तब कर्म वर्गणायें आकर्षित होकर आती हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेश अखण्ड होने के कारण तथा आठ मध्य प्रदेश में द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म होने के कारण आकर्षित हुई कार्माण वर्गणायें भी आठ मध्यप्रदेश में विभाजित होकर बन्ध जाती हैं। यदि आठ मध्यप्रदेश कर्म से रहित हो जायेंगे तब प्रत्येक संसारी जीव अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य का स्वामी बन जायेगा, परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष विरोध है।

यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनंतानंत परमाणु को छोड़कर संख्यात-असंख्यात, परमाणु कर्मरूप में परिणमन क्यों नहीं करते? इसका उत्तर देते हुये पूर्वचार्य ने कहा है कि — अनंतानंत परमाणु के समूह स्वरूप वर्गण को छोड़कर अन्य वर्गण में कर्मरूप परिणमन की योग्यता नहीं होती है। यह तो हुआ आगमोक्त उत्तर। कुछ तार्किक दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध ही होता है। तर्क यह है जब कर्म बन्ध होता है तब युगपत् आत्मा के असंख्यात प्रदेश में कर्मबन्ध होते हैं। असंख्यात प्रदेश में युगपत् कर्मबन्ध होने के कारण युगपत् सम्पूर्ण आत्मप्रदेश में योग (परिस्पन्दन) एवं उपयोग (कथाय भाव) होना है। यदि एक साथ असंख्यात प्रदेश में कर्म बन्धते हैं तब असंख्यात से कम परमाणु से तो कार्य नहीं चलेगा। दूसरा तर्क यह है कि एक आत्म अनादि से बद्ध होने के कारण एक-एक आत्मप्रदेश में अनंतानंत परमाणु बंधे हुए हैं। जो नये कर्म परमाणु बंधते हैं वे प्राचीन कर्म परमाणु के साथ बंधते हैं इसलिए कर्म परमाणु के साथ बंधने के लिए अनंतानंत परमाणु की आवश्यकता होती है, और भी एक तर्क यह है कि प्रत्येक आत्म प्रदेश में अनंत ज्ञान, सुख, वीर्य आदि मौजूद हैं। उन अनंत शक्तियों को पराभूत करने के लिए अनंत शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इसलिए अनंतशक्तिशाली जीव को पराभूत करके, बन्धन में डालकर, संसार में परिभ्रमण कराने के लिये अनंतानंत परमाणु की आवश्यकता होती है। जैसे — सामान्य पशु को बौधने के लिये सामान्य रसी से काम चल सकता है, परन्तु विशेष शक्तिशाली पशु सिंह, हाथी आदि के लिए विशेष रसी की आवश्यकता होती है। और एक तर्क यह है कि एक समय में जो कर्म वर्गणायें निर्जरित होती हैं, उस वर्गण में अनंतानंत परमाणु रहते हैं। 'व्यय के अनुसार आय' इस न्यायानुसार व्यय परमाणु अनंतानंत होने के कारण आय परमाणु भी अनंतानंत होने ही चाहिए।

आस्त्र एवं बंध तत्व संसार तत्व है। इस आस्त्र एवं बंध तत्व के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इसीलिये दोनों तत्वों हेय (त्यजनीय) है। प्रत्येक समय में जीव योग और उपयोग से जैसे — कर्म को आकर्षित करके बांधता है, वैसे ही स्वाभाविक स्थिति बंध के क्षय हो, कर्म की निर्जरा भी होती है परन्तु यह निर्जरा नवीन कर्म-बंध के लिए कारण भूत हो जाती

है, क्योंकि जिस समय कर्म उदय में आकर निर्जरित होता है, उस समय जीव में उदय प्राप्त कर्म के निमित्त से योग्य योग और उपयोग होता है। उस योग और उपयोग से प्रेरित होकर पुनः कर्म आस्त्र एवं बंध हो जाता है। इसलिए इस प्रकार की निर्जरा, अकाम निर्जरा को सविपक्ष निर्जरा-अकुशल निर्जरा अकम निर्जरा कहते हैं। जैसे — बीज योग्य भूमि में गिरने के बाद वृक्षरूप में परिणमन कर लेता है। उसी प्रकार यह निर्जरा नये कर्म को जन्म देने के लिए कारण भी बन जाती है। यह निर्जरा विशेषतः एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में होती है। सत्य प्रतीति, सदज्ञान, सदाचरण के माध्यम से जो कर्म आत्मा से पृथक होता है, उसको अविपक्ष निर्जरा, सकाम-निर्जरा या सकुशल निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा परस्पर से मोक्ष तत्व के लिए कारण भूत है। आध्यात्मिक जागरण के बाद कुछ विशेष पाप कर्म का आना रुक जाना उसको संवरण या संवर कहते हैं। संवर पर्वक निर्जरा ही यथार्थ से उपादेय है, इसलिए संवर एवं निर्जरा मोक्ष तत्व के लिए कारण भूत है। जब सम्पूर्ण आध्यात्मिक जागरण या रलत्य की पूर्णता होती है, तब सम्पूर्ण कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं-गल जाते हैं-खिर जाते हैं। तब उनको मोक्ष तत्व कहते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त से यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण जीव अनादि काल से कर्म बन्धन से जकड़े होते हुए भी आध्यात्मिक पुरुषार्थी जीव सम्पूर्ण बंधनों की तोड़कर, सर्वशान्तिमान, पूर्ण स्वतंत्र, शुद्ध-बुद्ध भगवान बन जाता है परन्तु जो आध्यात्मिक पुरुषार्थ से हीन होते हैं, वे कर्म-बन्ध से रहित होकर सुख का आस्वादन नहीं ले पाते हैं अर्थात् अनादि काल से कर्म बलवान होते हुये भी भव्य जीव का पुरुषार्थ कर्म से भी अधिक शक्तिशाली होने से अन्त में भव्य जीव, स्वपुरुषार्थ से सम्पूर्णकर्म को नष्ट करके परमात्मा बन जाता है परन्तु अभ्यु जीव के लिए कर्म अनादि से बलवान है एवं अनन्त काल तक बलवान ही रहेगा। अन्य एक दृष्टि कोण से विचार करने पर जैसे बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही पुरुषार्थ से कर्म की उत्पत्ति होती है। वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्य के लिए भाग्य बन जाता है, इसलिए भाग्य और पुरुषार्थ परस्पर में जन्य-जनकत्व, अनुपूरक, परिपूरक हैं। इससे सिद्ध होता है कि वर्तवान में कोई सुखीया या दुःखी है तो उस सुख-दुःख का उत्तरदायित्व स्वोपार्जित पूर्व कर्म है। इसलिए उस सुख-दुःख के लिए निमित्त को ही मुख्य कारण मानकर दूसरों पर रागद्वेष करना अज्ञानियों का काम है। प्रत्येक सुख-दुःख के लिए स्वापार्जित पूर्वकर्म ही उपादान कारण है तो अन्य बाह्य कारण निमित्त कारण हैं। ज्ञानियों को यथार्थ रहस्य का परिज्ञान करके मूल कारण को ही हटाना चाहिये जैसे, सिंह पर कोई लाठी प्रहार करता है तो वह लाठी को नहीं पकड़ता। परन्तु प्रहार करने वाले को ही पकड़ता है जबकि कुत्ते को लाठी से प्रहार करता है तो वह लाठी को ही पकड़ता है, आदमी को नहीं। उसी प्रकार ज्ञानी सिंह के समान सुख-दुःख का मूल कारण कर्म को जानकर उसके निर्मूलन करने का पुरुषार्थ करता है, परन्तु अज्ञानी कुत्ते के समान कर्म को नहीं जानता हुआ अन्य बाह्य कारण, अन्य जीव या वस्तु आदि को मानकर उसको ही नष्ट करने का पुरुषार्थ करता है। वर्तमानवैज्ञानिक दृष्टि कोण से इस कर्म सिद्धान्त पर निम्न प्रकार से विचार कर सकते हैं।

प्रत्येक दृष्ट्य पदार्थ को छोटे-छोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है, जिन्हें अणु कहते हैं। ये अणु ही परस्पर संयुक्त होकर इतना बड़ा कण (स्कंध) बनाते हैं अर्थात् बनाते चले जाते हैं कि वे दृष्ट्य हो जाते हैं। प्रश्न यह है कि ये अणु परस्पर संयुक्त क्यों होते हैं? इन सभी अणुओं में एक विशेष पारस्परिक आकर्षण-बल (**mutual force of attraction**) होता है जिसके द्वारा ही ये परस्पर संयुक्त होते हैं किन्तु यह बल स्थायी नहीं होता, इसी कारण इसी बाह्य अणु आन्तरिक (बहिरंग या अन्तरंग) बल से प्रेरित होने पर ये विभक्त (पृथक्) हो-

जाते हैं। इस बल को वाण्डर वाल आकर्षण बल (Vander Waals, Force of attraction) व बंध के टूटने को (cleavage, breaking) कहते हैं। जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त के आधार पर इस आकर्षण को 'आस्र' कहते हैं, व पृथक् होने को निर्जरा कहते हैं। जीव एवं कामण वर्गणाओं (molecules having the nature of KARMA) के परस्पर संश्लेष-सम्बन्ध को कर्म बंध (bond formation) कहते हैं।

अणु सिद्धान्त के अनुसार किसी भी पुदगल का किसी अन्य पुदगल से सम्बन्ध संसजन बल (Cohesive force जो समान अणुओं में कार्य करता है) व असंजन बल (adhesive force जो विपरीत प्रकृति के अणुओं में कार्य करता है) के द्वारा होता है, चाहे वह एक से हो, दो से हो अथवा संख्यात या असंख्यात पुदगलों से हों।

अध्याय 13

भाग्य और पुरुषार्थ का सार

पू-उपाध्याय कनकनन्दी जी ने अपने प्रवचन में कहा — जीवन में भाग्य और पुरुषार्थ दोनों का योगदान रहा है। इनका कार्य क्या है- इसका स्पष्टीकरण कर रहा हूँ।

दो मित्र थे। उनमें से एक वेश्या के यहाँ गया और एक मंदिर में भगवानुके दर्शन करने गया। लौटकर जब आये तो मंदिर में जाने वाले के पैर में कांटा लगा और वेश्या के यहाँ जाने वाले को एक Money Bag मिला जिसमें 1000 रु० थे। वेश्यागामी ने कहा — देखा मैंने पहले ही कहा था Eat, Drink and be Mery. खूब मौज उड़ाओ या रखा धर्म-कर्म में। और मंदिर जाने वाले ने यही कहा कि धर्म से कभी दुःख हो ही नहीं सकता। वेश्यागामी ने कहा कि पुण्य-पाप तो, जब शरीर जला दिया जाता है वही भ्रम हो जाता है उसका फल नहीं मिला करता। जो कुछ हुआ उसका रहस्य जानने के लिए वे दोनों एक मुनिराज के पास गये, जो अवधि ज्ञानी थे। उन्होंने कहा कि मंदिर जाने वाले ने ऐसा कर्म बांध रखा था, जिससे उसके भाग्य में शूली का दण्ड मिलना था। परन्तु उसने वर्तमान में धर्म का पुरुषार्थ किया जिसके कारण शूली से शूल रह गया परन्तु धर्म रूपी पुरुषार्थ इतना नहीं था कि जो पूर्व में पाप-कर्म बांधा था वह पूरा का पूरा नष्ट हो जाये इसलिए उसको कांटा ही लगा, और वेश्यागामी के भाग्य में था राज्य का मिलना, परन्तु वर्तमान के पुरुषार्थ से पाप से दैव नष्ट हुआ और उसे 1000 रु० ही मिले। परन्तु उसका भी कुपुरुषार्थ इतना नहीं था कि पूरा का पूरा पुण्य-कर्म नष्ट हो जाता।

इसलिये यह देखने में आता है कि जो तत्कालीन पापी है, दुष्ट है, दुराचारी है, हिंसक है, उनको तो वर्तमान में सुख-सम्पत्ति मिलती देखी जाती है और जो वर्तमान में सदाचारी है, सज्जन है, दयालु है वह अपनी आर्थिक स्थिति या शारीरिक स्थिति से दुःखी रहते हैं। इससे यह समझिये वह कि वर्तमान में धर्म करने से सुखी व पाप करने से दुःखी नहीं होते बल्कि उनके सुख-दुःख का कारण उनका पूर्व का बांधा शुभ या अशुभ कर्म या भाग्य ही है। देखा जाता है कि 1000 रु० कमाने वाला भी कर्जदार रहता है और 100 रु० कमाने वाला भी कर्जदार नहीं है। कारण इसका यही है कि एक ने पहले कर्ज लिया हुआ है, और दूसरे ने नहीं। जैसे कोई Retire होता है। यदि उसका रुपया बैंक में जमा है तो उसे बराबर मिलता रहता है और जिसने कुछ जमा ही नहीं किया, उसे भला क्या मिलेगा?

कोई सुखी हो या दुःखी उसे धर्म करते ही रहना चाहिये। आज का नवयुवक कहता है कि हम पाप ही नहीं करते तो क्यों मंदिर जी जाये? भैया! जब तक कोई अरंहत या सिद्ध नहीं बन जाता कर्म तो रहते ही हैं, और वह कर्म उदय में आकर दुःख देते ही हैं। यदि कोई धर्मली भी है तो उसे पुण्य दैव की बढ़ाने के लिए धर्म करते ही रहना चाहिये और यदि किसी के पाप

का उदय भी है तो उस पाप को घटाने के लिए उसे धार्मिक क्रियायें करते ही रहना चाहिये । यदि किसी के पुण्य का उदय है और कर रहा है पाप, तो उसका पुण्य भी नष्ट हो जाता है । बुद्ध भगवान का शिष्य था- आनन्द । एक बार बुद्ध को कांटा लगा । आनन्द ने पूछा - कि आप तो धर्मात्मा हैं आपको कांटा क्यों लगा? तो बुद्ध ने कहा कि मैंने न तो इस भव में पाप किया और न पहले भव में । 79th भव पहले एक जीव को शूली दण्ड दिया था वही पाप अब तक फल दे रहा है । कौन चाहता है कि मैं अन्धा बनूँ, गरीब बनूँ, दुःखी बनूँ परन्तु देखा जाता है बहुत से जन्मान्ध होते हैं, बहुत से पैदा होते ही दुःखी रहते हैं । बहुत से गर्भपात होने के कारण गर्भ में ही मर जाते हैं । बहुत से जन्म लेते ही मर जाते हैं । कोई बहुत थोड़ा पुरुषार्थ करके भी बड़ा धनी देखा जाता है । इन सबका कारण है कि पहला किया हुआ पुण्य कर्म । जिससे धाली भी चक्र बन जाती है । क्या इसमें पुरुषार्थ किया गया ? रावण ने पूर्व पुण्य से चक्र प्राप्त किया, परन्तु जब उसने उसे लक्षण पर चलाया तो वही चक्र लक्षण की तीन प्रदक्षिणा लेकर लक्षण के हाथ में आ गया और लक्षण ने उसी चक्र से रावण को मार गिराया । तो यह सब पूर्व पुण्य व पाप का ही तो खेल है । वर्तमान में लक्षण का कोई पुरुषार्थ नहीं परन्तु पूर्व का दैव (भाग्य) इसमें कारण है ।

दैव व पुरुषार्थ दो चीज नहीं । वर्तमान का पुरुषार्थ ही तो भविष्य का दैव बन जाता है । तुलसीदास ने भी कहा है 'विश्वं प्रधानं कर्म करि राखा, जो जैसा करहि तैसा फलहूँ चाखा' । जो जैसा करता है, वैसा ही भोगता है । As you Sow, So you reap. तुम ही अपने ब्रह्मा हो विष्णु हो व शक्ति हो ।

सीता ने इस भव में क्या पाप किया था, परन्तु वह रावण से हरी गयी, जंगल में छोड़ी गयी इसमें उसका पूर्व भव का कर्म ही कारण था । वेगवती के भव में उसने मुनिराज व आर्यिका (जो पिता व पुत्री को) पास बैठे स्वाध्याय करते देखकर उनके चरित्र पर दोष लगाया था, उनकी निन्दा की थी, जिसके कारण उस पर भी दोष लगा । अंजना ने इस भव में क्या पाप किया था जो २२ वर्ष तक पति का वियोग हुआ ? इसमें भी कारण था उसका पूर्व भव का कार्य । उसने सीता से ईर्झविश उसकी प्रतिमा को उठाकर केवल २२ पल ही तो अलग रखा था । बाद में पश्चाताप किया और उसे वापिस कर दिया । इसलिए २२ वर्ष तक पति वियोग और फिर पति मिलन । कहा है -

जाको रखे साईयॉ, मार सके ना कोय । बाल न बांका करि, जो जग बैरी होय ॥

यहाँ पर साईयॉ का अर्थ उन्होंने भगवान् माना है परन्तु वास्तव में वह कर्म ही है, दैव ही है, भाग्य ही है । पाश्वर्नाथ भगवान् पर उपर्सर्ग हुआ । इससे पहले भी उनको 10 भवों तक कमठ का जीव मारता रहा । इसका भी कारण था उनका उस भव का कार्य जिस भव में वे वायुभूति थे और अपने बड़े भाई मरुभूति द्वारा अपनी स्त्री के साथ कुचेष्टा करने पर भी अपने भाई को क्षमा कर दिया था । और भाई को बुलाने के लिये उसके पास गये । इसमें उनका राग भाव था । यह पाप नहीं तो क्या था ? जिसके कारण 10 भव तक उन्हें कष्ट मिलता रहा भगवान आदिनाथ को भी कर्म ने नहीं छोड़ा । 6 माह तक उन्हें आहार नहीं मिला । छोंके ही तो बंधवाये थे बैलों के मुखों पर ताकि वे खेत न चर सकें ।

हम यह न समझें कोई हमें नहीं देखता हम पाप किये जाए, कर्म हमारा क्या बिगड़ लेगा । कर्म के आगे किसी की वूस नहीं चलती, रिश्वत नहीं चलती । यहाँ पर Supreme Court से भले ही स्फूट जाए परन्तु कर्म से नहीं स्फूट सकते । कैसा भी छिपकर पाप करने वाला हो वह दुःखी होगा ही ।

लोग कहते हैं कि Rail Accident हो जाता है । अभी ईरान में भूकम्प आया लाखों लोग मर गये तो क्या सबका कर्म एक साथ बंधा हुआ था । जो एक साथ उदय में आ गये हैं, ऐसा ही । एक गौव में मुनिसंघ आया था । उस गौव के सभी लोग मुनि की निन्दा करते थे । केवल एक कुम्हार था जो निन्दा नहीं करता था । गौव में आग लगी 60 के 60000 लोग आग में स्वाहा हो गये । सबके मकान जल गये । एक उसी कुम्हार की कुटिया बची । और वह कुम्हार बचा । वे 60000 मरकर कोढ़ी हो गये फिर गिराई हवने । हाथी के पैर के नीचे आकर मर गये ।

बहुत समय तक साथ साथ मरे । फिर राजा सगर चक्रवर्ती के 60000 पुत्र बने । धरणेन्द्र ने कुपित होकर सबको मूर्छित कर दिया । बस, एक वही कुम्हार का जीव भगीरथ बना । श्रीपाल व उसके 700 साधियों ने मुनि को कोढ़ी कहा । तो 700 साधियों सहित श्रीपाल कोढ़ी बन गया ।

मझे कुछ दिन पहले स्वप्न आया था । मैंने आचार्य महाराज श्री से कहा कुछ अनर्थ होने वाला है । अगले दिन अखबार में पढ़ा दिल्ली में जगह जगह आग लगी । प्राकृतिक विपदाओं के कारण भी हमारी भावनाओं से सम्बन्धित है । न्यूटन का सिद्धांत है- To every action there is an equal and Opposite reaction. भौतिक साधन प्रकृति को पूर्ण रूप से control नहीं कर सकते ऐसा सिद्धांत है । यदि हम किसी प्रकार से भी प्रकृति का विरोध करते हैं तो प्रकृति का भी balance बिगड़ जाता है । जब पापाचार, अनाचार बढ़ते हैं, जीवों की हिंसा होती है तो प्रकृति का balance बिगड़ जाता है । इस गणतन्त्र सरकार ने पेड़ कटवाये, एकेन्द्रिय जीव को कष्ट दिया । परिणाम हुआ वर्षा नहीं हुई, प्रदूषण बढ़ा आदि । यह जो कुछ संसार में हो रहा है, हमारे देश में हो रहा है यह सब पाप जो हम कर रहे हैं उसका ही तो विस्फोट है । यह होगा ही और होता ही रहेगा ।

छट्ठे काल के अन्त में कल्की राजा होगा । चारों प्रकार का संघ अन्त तक रहेगा, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका । वह कल्की राजा टैक्स के रूप में मुनि का प्रथम ग्रास लेगा । मुनि समाधि ले लेंगे । वह तो स्वर्ग चले जायेंगे । फिर चरणेन्द्र देव उसे पीटेगा । मुनि का अन्त हो जायेगा, तो धर्म का अन्त हो जायेगा, क्योंकि मुनि तो चलते फिरते धर्म हैं । मन्दिर, मसिद, गुरुद्वारे तो अजीव धर्म हैं । अग्नि का लोप ही जायेगा, लोग कच्चा मौस खाने लगेंगे । प्रकृति का balance बिगड़ जायेगा । धर्म लोप होने के बाद पुद्गल में जो स्तिर्घात्व (Positive Charge) गुण है यानि धनात्मक आवेश लोप हो जायेगा । धनात्मक आवेश नष्ट होने से रुक्षता ही बढ़ जायेगी ।

(Negative Charge) यानि क्रणात्मक आवेश । इसके कारण अग्नि का लोप हो जायेगा । वर्षा बन्द हो जायेगा । इसलिये कहा है - " साधु न होते संसार में, तो जल जाता संसार ।" साधु का पुण्य तथा भावात्मक तरंग प्रकृति के balance को सही रखने में सहायता

बनते हैं। जैसे Circus में खेल दिखाने वाले का यदि balance बिगड़ जाता है तो वह गिर जाता है इसी प्रकार पृथ्वी पर पाप बढ़ते हैं अनाचार बढ़ते हैं, प्रप्ताचार बढ़ते हैं, तो प्रकृति का balance बिगड़ जाता है और यह सब उपद्रव हो जाते हैं - भूचाल, भूकम्प आदि।

यह मत सोचो कि अन्याय करते रहने पर भी सब ठीक होता रहेगा, ऐसा हो नहीं सकता। दायें हाथ का पुरुषार्थ ही बायें हाथ का भाग्य होता है। हम अपने भाग्य के स्वयं निर्माता हैं, स्वयं संहारक हैं। पुरुषार्थ करो भाग्य का परिवर्तन हो जायेगा। धनाग्नि से, तपस्या से कितने भवों के संचित कर्म भी क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। ४८ मिनट में मिथ्या दृष्टि, सन्यग्दृष्टि बनकर अणुव्रत धारण करके, महाव्रत धारण करके श्रेणी चढ़कर कर्मों का नाश कर सिद्ध परमात्मा बन सकता है। बताओ भाग्य कहाँ चला गया? भाग्य तो आलसी के लिये होता है। शक्तिशाली तो पुरुषार्थ से भाग्य को भी तोड़ देता है।

भूख लगती है पाप कर्म के उदय से, असाता वेदनीय के उदय से। खाना खाने के पुरुषार्थ से भूख मिट जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस भव में विशेष कोई पुरुषार्थ नहीं किया लेकिन अपने पहले ग्वाले के भव में मुनिराज को शास्त्र भेंट किया उसी कर्म ने उन्हें इतना विद्वान बना दिया।

भाग्य एवम् पुरुषार्थ अनुपूरक भी है व परिपूरक भी है। संक्षेप में अन्तिम विजय पुरुषार्थ की ही होती है। इसलिये पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठ समझा है। पुरुषार्थ से ही सिद्ध बनते हैं। परम् पुरुषार्थ (मोक्ष) की जय हो।

संकलनकर्ता - डा० मूलचन्द्र जैन

'दैव (भाग्य) की अपेक्षा पुरुषार्थ की श्रेष्ठता'
बीजतो द्वकुं रोत्पतिरवकुरात् पर्णसम्भवः ।
पर्णान्नालाः प्रसूयन्ते नालात् स्कन्धः प्रवर्तते ॥
स्कन्धात् प्रवर्तते पुण्यं पुष्पान्निर्वर्तते फलम् ।
फलान्निर्वर्तये बीजं-बीजं नाफलमुच्यते ॥ ।

महाभारत पृष्ठ 5445

ब्रह्मा जी ने कहा - मुने! बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है, अंकुर से पते होते हैं। पते से नाल, नाल से तने और डालियाँ होती हैं। उनसे पुष्प प्रकट होता है। फूल से फल लगता है और फल से बीज उत्पन्न होता है और बीज कभी निष्कल नहीं बताया गया है।

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन बिना फलम् ।
बीजाद् बीजं प्रभवति बीजादेव फलं सृतम् ॥ १५ ॥

बीज के बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीज के बिना फल भी नहीं लगता। बीज से बीज प्रकट होता है, और बीज से ही फल की उत्पत्ति मानी जाती है।

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः ।

सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥ १६ ॥

किसान खेत में जाकर जैसा बीज बोता है, उसी के अनुसार उसको फल मिलता है। इसी प्रकार पुण्य वा पाप, जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है।

यथा बीजं बिना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्कलम् ।

तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति ॥ १७ ॥

जैसे बीज खेत में बोये बिना फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार दैव (प्रारब्ध) भी पुरुषार्थ के बिना नहीं सिद्ध होता।

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम् ।

क्षेत्रबीज समायागात् ततः सस्यं समृद्ध्यते ॥ १८ ॥

पुरुषार्थ खेत है, और दैव को बीज बताया गया है। खेत और बीज के संयोग से ही अनाज पैदा होता है।

कर्मणः फलनिर्वृतिं स्वयमश्नाति कारकः ।

प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च ॥ १९ ॥

कर्म करने वाला मनुष्य अपने भले - बुरे कर्म का स्वयं ही फल भोगता है। यह बात संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।

कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ १० ॥

शुभ कर्म करने से सुख और पाप करने से दुःख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सर्व ही फल देता है। बिना किये हुए कर्म का फल कहीं नहीं भोगा जाता।

कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम् ।

अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम् ॥ ११ ॥

पुरुषार्थी मनुष्य सर्व भाग्य के अनुसार प्रतिष्ठा पाता है; परन्तु जो अकर्मण्य है, वह सम्मान से भ्रष्ट हो कर घाव पर नमक छिड़कने के समान अस्त्र दुःख भोगता है।

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च ।

प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥ १२ ॥

मनुष्य को तपस्या से रूप, सौभाग्य और नाना प्रकार के रूप प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कर्म से सब कुछ मिल सकता है, परन्तु भाग्य के भरोसे निकम्मे बैठे रहने वाले को कुछ नहीं मिलता।

तथा स्वर्गश्च भोगश्च निष्ठा या च मनीषिता ।

सर्व पुरुषकारेण कृतेनेहोपलभ्यते ॥13॥

इस जगत् में पुरुषार्थ करने से स्वर्ग, भोग, धर्म में निष्ठा, और बुद्धिमत्ता - इन सबकी उपलब्धि होती है।

ज्योतीषिं त्रिदशा नागा यक्षश्चन्द्रार्कमारुता : ।

सर्व पुरुषकारेण मानुष्याद् देवतां गताः ॥14॥

नक्षत्र, देवता, नाग, यक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सभी पुरुषार्थ करके ही मनुष्य लोक से देव लोक को गये हैं।

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्य वा कुलान्वितम् ।

श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्म्भिः ॥15॥

जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्र, वर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्षणी का भी उपभोग नहीं कर सकते।

शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण तु ।

वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम् ॥16॥

ब्राह्मण शौचाचार से, क्षत्रिय पराक्रम से, वैश्य उद्योग से, तथा शूद्र तीनों वर्णों की सेवा से सम्पत्ति पाता है।।

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम् ।

नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्त्विनम् ॥ 17 ॥

न तो, दान न देने वाले कंजूस को धन मिलता है, न नंपुसंक को, न अकर्मण्य को, न काम से जी चुराने वाले को, न शोर्यहीन को और तपस्या न करने वाले को ही मिलता है।

येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाच देवताः ।

स एष भगवान् विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः ॥ 18 ॥

जिन्होंने तीनों लोकों, दैत्यों तथा सम्पूर्ण देवताओं की भी सृष्टि की है, वे ही ये भगवान् विष्णु समुद्र में रहकर तपस्या करते हैं।

**स्वं चेत् कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत् ।
लोको दैवं समालक्ष्य उदासीनो भवेन्ननु ॥19॥**

यदि अपने कर्मों का फल न प्राप्त हो, तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाय, और सब लोग भाग्य को ही देखते हुए कर्म करने से उदासीन हो जायें।

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते ।

वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना ॥20॥

मनुष्य के योग्य कर्म न करके जो पुरुष केवल दैव का अनुसरण करता है, वह दैव का आश्रय लकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। जैसे कोई स्त्री अपने नंपुसंक पति को पाकर भी कष्ट भोगती है।

न तथा मानुषे लोके भयमस्ति शुभाशुभे ।

तथा त्रिदशलोके हि भयमल्पेन जायते ॥21॥

इस मनुष्य लोक में शुभाशुभ कर्मों से उतना भय नहीं प्राप्त होता, जितना कि देव लोक में थोड़े से पाप से भय होता है।

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।

न दैवमकृते किञ्चित् कस्यचिद् दातुमहंति ॥22॥

किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव का अनुसरण करता है, परन्तु पुरुषार्थ न करने पर दैव किसी को कुछ नहीं दे सकता।

यथा स्थानान्यनित्यानि दृश्यन्ते दैवतेष्वपि ।

कथं कर्म बिना दैवं स्थास्यति, स्थापयिष्यति ॥23॥

देवताओं में भी जो इन्द्रादि के स्थान हैं, वे अनित्य देखे जाते हैं। पुण्यकर्म के बिना दैव कैसे स्थिर रहेगा, और कैसे वह दूसरों को स्थिर रख सकेगा?

न दैवतानि लोकेऽस्मिन् व्यापारं यान्ति कस्यचित् ।

व्यासङ्गं जनयन्त्युग्रमात्माभिभवशङ्कया ॥24॥

देवता भी इस लोक में किसी के पुण्यकर्म का अनुमोदन नहीं करते हैं, अपितु अपनी पराजय की आशंका से वे पुण्यात्मा पुरुष में भयंकर आसक्ति पैदा कर देते हैं। (जिससे उनके धर्म में विघ्न उत्पन्न हो जाये)

ऋषीणां देवतानां च सदा भवति विग्रहः ।
कस्य वाचा द्वैवं स्थाद् यतो दैवं प्रवर्तते ॥१२५॥

ऋषियों और देवताओं में सदा कलह होता रहता है। देवता ऋषियों की तपस्या में विघ्न डालते हैं तथा ऋषि अपने तपोबल से देवताओं को स्थान भ्रष्ट कर देते हैं। फिर भी दैव के बिना केवल कथन मात्र से किसको सुख या दुःख मिल सकता है? क्योंकि कर्म के मूल में दैव का ही हाथ है।

कथं तस्य समुत्पत्तिर्यतो दैवं प्रवर्तते ।
एवं त्रिदशलोकेऽपि प्राप्यन्ते बहवो गुणाः ॥१२६॥

दैव के बिना पुरुषार्थ की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि प्रवृत्ति का मूल कारण दैव ही है। (जिन्होंने पूर्व जन्म में पुण्यकर्म किये हैं, वे ही दूसरे जन्म में भी पूर्व संस्कार वश पुण्य में प्रवृत्त होते हैं। यदि ऐसा न हो तो सभी पुण्यकर्मों में ही लग जायें) दैवलोक में दैव वश ही बहुत से गुण (सुखद साधन) उपलब्ध होते हैं।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मैव ह्यात्मना साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥१२७॥

आत्मा ही बन्धु है, आत्मा ही अपना शत्रु है, तथा आत्मा ही अपने कर्म और अकर्म का साक्षी है।

कृतं चाप्यकृतं किञ्चित् कृते कर्मणि सिद्धयति ।
सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥१२८॥

प्रबल पुरुषार्थ करने से पहले का किया हुआ भी कोई कर्म बिना किया हुआ सा हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल प्रदान करता है। इस तरह पुण्य या पाप कर्म अपने यथार्थ फल को नहीं दे पाते हैं।

देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते ।
पुण्यशीलं नरं प्राप्य किं दैवं प्रकरिष्यति ॥१२९॥

देवताओं का आश्रय पुण्य ही है पुण्य से ही सब कुछ प्राप्त होता है। पुण्यात्मा पुरुष को पाकर दैव क्या करेगा?

वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः ।
मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलतत्तं गतः ॥१३४॥

द्वितीय इन्द्र के समान सौ यज्ञों का अनुष्ठान करके भी राजा वसु एक ही मिथ्या भाषण के दोष से रसातल को चले गये।

पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः ।
पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद् भुजसंश्श्रयात् ॥१४०॥

महाबली धृतराष्ट्रके पुत्रों ने पाण्डवों का राज्य हड्प लिया था। उसे पाण्डवों ने पुनः बाहुबल से ही वापिस लिया, दैव के भरोसे नहीं।

पापमुत्सृजते लोके सर्वं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ॥१४२॥

संसार में समस्त सुदुर्लभ मुख भोग किसी पापी को प्राप्त हो जाये तो भी वह उसके पास टिकता नहीं शीघ्र ही उसे छोड़कर चला जाता है। जो मनुष्य लोभ और मोह में डूबा हुआ है, उसे दैव भी संकट से नहीं बचा सकता।

यथार्णिः पवनोद्धृतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत् ।
तथा कर्मसभायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥१४३॥

जैसे थोड़ी सी भी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ़ जाता है।

यथा तैलक्षयाद् दीपः प्रहासमुपगच्छति ।
तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रहासमुपगच्छति ॥१४४॥

जैसे तेल समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्म के क्षीण हो जाने पर दैव भी नष्ट हो जाता है।

विपुलमपि धनौदं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा ।
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम् ।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणं ।
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥१४५॥

उद्योगहीन मनुष्य धन का बहुत बड़ा भण्डार तरह तरह के भोग और स्त्रियों को पाकर भी उनका उपभोग नहीं कर सकता; किन्तु सदा उद्योग में लगा रहने वाला महामनस्वी पुरुष देवताओं द्वारा सुरक्षित तथा गाढ़कर रखे हुए धन को भी प्राप्त कर लेता है।

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते ।
 भवति मनुजलोकाद् देवलोको विशिष्टः ।
 बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहणि ।
 पितृवनभवनाभ्यं दृश्यते चामराणम् ॥46॥

जो दान करने के कारण निर्धन हो गया है, ऐसे सत्पुरुष के पास उसके सत्कर्म के कारण देवता भी पहुँचते हैं और इस प्रकार उसका घर मनुष्यलोक की अपेक्षा श्रेष्ठ देवलोक सा हो जाता है। परन्तु जहाँ दान नहीं दिया जाता, वह घर बड़ी भारी समृद्धि से भरा हो तो भी देवताओं की दृष्टि में वह शमशान के ही तुल्य जान पड़ता है।

न च फलति विकर्मा जीवलाके न दैवं ।
 व्यपनयति विमार्ग नास्ति दैवे प्रभुत्वम् ।
 गुरुमिव कृतम्यं कर्म संयाति दैवं ।
 नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥47॥

इस जीव जगत् में उद्योगीहीन मनुष्य कभी फूलता-फलता दिखाई नहीं देता। दैव में इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगा दे। जैसे शिय गुरु को आगे करके चलता है, उसी तरह दैव पुरुषार्थ को ही आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव को जहाँ चाहता है, वहाँ वहाँ ले जाता है।

एतत् ते सर्वमात्यातं भया वै मुनिसत्तम् ।
 फलं पुरुषकारस्य सदा संदृश्यं तत्त्वतः ॥48॥

मुनि श्रेष्ठ! मैंने सदा पुरुषार्थ के ही फल को प्रत्यक्ष देख कर यथार्थरूप से ये सारी बातें तुम्हें बतायी हैं।

अभ्युत्थानेन दैवस्य समारथेन कर्मणा ।
 विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ॥49॥

मनुष्य दैव के उथान से आरम्भ किये हुए पुरुषार्थ से उत्तम विधि और शास्त्रोक्त सत्कर्म से ही स्वर्गलोक का मार्ग पा सकता है।

लक्ष्यते द्विविधं कर्म मानुषेष्वैव तच्छृणु ।
 पुराकृतं तयोरेकमैहिकं त्वितरत् तथा ॥

— म०भा० भा० vi प० 5978

मनुष्यों में दो प्रकार का कर्म देखा जा सकता है, उसे सुनो। इनमें एक तो पूर्वकृत कर्म है और दूसरा इहलोक में किया गया है।

लौकिकं तु प्रवक्ष्यामि दैवमानुषनिर्मितम् ।
 कृष्णे तु दृश्यते कर्म कर्षणं वपनं तथा ॥
 रोपणं चैव लवनं यच्चान्यत् पौरुषं स्मृतम् ।
 दैवादसिद्धिश्च भवेद् दुष्कृतं चास्ति पौरुषे ॥

अब मैं देव और मनुष्य दोनों में सम्पादित होने वाले लौकिक कर्म का वर्णन करता हूँ। कृष्ण में जो जुटाई, बोवाई, रोपनी, कटनी तथा ऐसे ही और जो भी कार्य देखे जाते हैं, वे सब मानुष कहे गये हैं। दैव से उस कर्म में सफलता और असफलता होती है। मानुष कर्म में बुराई भी सम्भव है।

सुयत्नाल्लभ्यते कीर्तिर्दुर्यत्नादयशस्तथा ।
 एवं लोकगतिर्देवि आदिप्रभृति वर्तते ।

उत्तम प्रयत्न करने से कीर्ति प्राप्त होती है और वुरे उपायों के आलम्बन से अपयश। देवि ! आदिकाल से ही जगत की ऐसी ही अवस्था है।

रोपणं चैव लवनं यच्चान्यत् पौरुषं स्मृतम् ।
 काले वृष्टिः सुवापं च प्ररोहः पंक्तिरेव च ।
 एवमादि तु यच्चान्यत् तद् दैवतमिति स्मृतम् ॥

बीज का रोपना और काटना आदि मनुष्य का काम है परन्तु समय पर वर्षा का होना, बोवाई का सुन्दर परिणाम निकलना, बीज में अंकुर उत्पन्न होना और शस्य का श्रेणीबद्ध होकर प्रकट होना इत्यादि कार्य दैव सम्बन्धी बताये गये हैं। दैव की अनुकूलता से ही इन कार्यों का सम्पादन होता है।

पञ्चभूतस्थितिश्चैव ज्योतिषामयनं तथा ।
 अनुद्विगम्य यन्मत्यैहेतुभिर्वा न विद्यते ॥
 तादृशं कारणं दैवं शुभं वा यदि वेतरत् ।
 यादृशं चात्मना शक्यं तत् पौरुषमिति स्मृतम् ॥

पञ्चभूतों की स्थिति, ग्रहन क्षत्रों का चलना - फिरना तथा जहाँ मनुष्यों की बुद्धि न पहुँच सके अथवा किन्हीं कारणों या युक्तियों से भी समझ में न आ सके - ऐसा कर्म शुभ या अशुभ दैव माना जाता है और जिस बात को स्वयं मनुष्य कर सके, उसे पौरुष कहा गया है।

केवलं फलनिष्पत्तिरेकेन तु न शक्यते ।
 पौरुषेणैव दैवेन युगपद् ग्रथितं प्रिये ॥

केवल दैव या पुरुषार्थ से सिद्धि प्राप्त नहीं होती । प्रिये ! प्रत्येक वस्तु या कार्य एक साथ पुरुषार्थ और देव दोनों में ही गुणा हुआ है ।

**तयोः समाहितं कर्म शीतोष्णं युगपत् तथा ।
पौरुषं तु तयोः पूर्वमारब्धव्यं विजानता ।
आत्मना तु न शक्यं हि तथा कीर्तिमवाप्नुयात् ॥**

दैव और पुरुषार्थ दोनों के समकालिक सहयोग से कर्म सम्पन्न होता है । जैसे एक ही काल में सर्दी और गर्मी दोनों होती हैं उसी प्रकार एक ही समय दैव और पुरुषार्थ दोनों काम करते हैं । इन दोनों में जो पुरुषार्थ हैं उसका आरम्भ विज्ञ पुरुष को पहले करना चाहिए । जो अपने आप होना सम्भव नहीं है, उसको, आरम्भ करने से मनुष्य कीर्ति का भागी होता है ।

**खननान्मथनाल्लोके जलाग्निप्रापणं तथा ।
तथा पुरुषकारे तु दैवसम्पत् समाहिता ॥**

जैसे लोक में भूमि खोदने से जल तथा काष्ट का मन्यन करने से अग्नि की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ करने पर दैव का सहयोग स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

**नरस्याकुर्वतः कर्म दैवसम्पन्न लभ्यते ।
तस्मात् सर्वसमारम्भो दैवमानुषनिर्मितः ॥**

जो मनुष्य कर्म नहीं करता, उसकी दैवी सहायता नहीं प्राप्त होती, अतः समस्त कार्यों का आरम्भ दैव तथा पुरुषार्थ दोनों पर निर्भर है ।

(महाभारते अनुशासन पर्वणि दानधर्म पर्व 5955 से 5979 तक)

अध्याय 14

दैव और पुरुषार्थ की सूक्ष्मियाँ

रागो य दोसो वि य कम्बवीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वर्यन्ति ।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाइमरणं वर्यन्ति ॥

उत्तराध्ययन 32 / 7

राग और द्वेष ये दो कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म मरण ही वस्तुः दुख है ।

दुविहे बन्धे,
पेज्जबंधे चेव दोसबंधे चेव ॥

स्थानांग 214

बन्धन के दो प्रकार हैं - प्रेम का बन्धन और द्वेष का बन्धन ।

अकम्मस्स ववहारो न बिज्जई ॥

आचारांग 1/3/1

जो कर्म में से अकर्म की स्थिति में पहुँच गया है, वह तत्वदर्शी लोक-व्यवहार की सीमा से परे हो गया है ।

कम्मुणा उवाही जायइ ॥

आचारांग 1/3/1

कर्म से ही समग्र उपाधियों-विकृतियों पैदा होती हैं ।

कम्ममूलं च जं छणं ॥

आचारांग 1/3/1

कर्म का मूल क्षण अर्थात् हिंसा है ।

सबे सयकम्मकपिया ॥

सूत्रकृतांग 1/2/6/18

सभी प्राणी अपने कृत-कर्मों के कारण नाना योनियों में भ्रमण करते हैं ।

जहाकडं कम्म, तहासि भारे ॥

सूत्रकृतांग 1/5/1/26

जैसे किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका भोग ।

एगो सयं पच्चणु होई दुखं ॥

1,5,2,22

आत्मा अकेला ही अपने किये हुए दुःख को भोगता है ।

ज जारिसं पुव्वमकासि कम्म,
तमेव आगच्छति संपराए ॥

सूत्रकृतांग 1,5,2,23

अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है ॥

तुद्दर्ति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुब्बओ ॥

सूत्रकृतांग 1,15,6

जो नये कर्मों का बन्धन नहीं करता है, उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी नष्ट हो जाते हैं

अकुब्बओ णवं णत्थि ॥

सूत्रकृतांग 1,15,7

जो अन्दर में राग-द्वेष रूप-भावकर्म नहीं करता है, उसे नये कर्म का बन्ध नहीं होता ।

दुक्खी दुक्खेण फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेण फुडे ॥

भगवती 7,1

जो दुःखित-कर्मबद्ध है वही दुःख बन्धन को पाता है, जो दुःखित बद्ध नहीं है, वह दुःख-बन्धन को नहीं पाता ।

सक्कम्मुण किच्चइ पावकारी ।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥

उत्तराध्ययन 4,3

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीड़ित होती है । क्योंकि कृत - कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है ।

कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥

उत्तराध्ययन 7,20

प्राणियों के कर्म ही सत्य हैं ।

बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥

उत्तराध्ययन 8,15

जो आत्माएं बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है

कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥

उत्तराध्ययन 13,23

कर्म सदा कर्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते हैं ।

पदुद्धचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उत्तराध्ययन 32,46

आत्मा प्रदुष्यचित (राग द्वेष से कलुषित) होकर कर्मों का संचय करती है । वे कर्म, विपाक (परिणाम) में बहुत दुःखदाई होते हैं ।

जहा जहा अप्पतरो से जागो
तहा तहा अप्पतरो से बंधो
निस्फङ्ग जोगिस्स व से ण होति,
अछिद्रपोतस्स व अंबुणाधे ॥

वृहत्कल्पभाष्य 3926

जैसे-जैसे मन, वचन कार्य के योग (संघर्ष) अल्पतर होते हैं, वैसे-वैसे बन्ध भी अल्पतर होता जाता है । योग चक्र का पूर्णतः निरोध होने पर आत्मा में बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है । जैसे कि समुद्र में रहे हुए अछिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है ।

कर्मगीताः कर्माण्येष वर्द्धयन्ति ।

सूत्रकृतांगचूर्णि 1/12

कर्मों से डरते रहने वाले प्रायः कर्म को ही बढ़ाते रहते हैं ।

जीवाणं चेयकडा कम्मा कर्ज्जति,
नो अचेयकडा कम्मा कर्ज्जति ॥

भगवती 1/62

आत्माओं के कर्म चेतना कृत होते हैं अचेतना कृत नहीं ।

हेउप्पभवोबन्धो ॥

दशैकैकालिक निरुक्ति 4/6

आत्मा को कर्म बन्ध मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है ।

सत्यमेव कहेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जपुट्ठयं ।

सूत्रकृतांग 1/2/1/4

आत्मा अपने स्वयं के कर्मों से ही बन्धन में पड़ता है । कृत कर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं है ।

पक्के फलम्मि पडिए, जह ण फलं बज्जाए पुणो विटे ।

जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेदि ॥

समयसार 168

जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुनः वृक्ष से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुनः आत्मा (वीतराग) को नहीं लग सकते

नान्तरिक्षे न समुद्रमध्ये न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।
न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्रस्थितो मुच्येतापकर्मणः ॥12॥

न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर संसार में कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ रहकर पाप कर्मों के फल से प्राणी बच सके ।

1 इह लोगे सुचिन्ना कम्माः

इह लोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवन्ति ।

इह लोगे सुचिन्नाकम्मा,

परलोगे सुहफल विवागसंजुत्ता भवन्ति ॥

स्थानांग 4/2

इस जीवन में किये हुए सत्कर्म इस जीवन में भी सुखदायी होते हैं। इस जीवन में किए हुए सत्कर्म आगे जीवन में भी सुखदायी होते हैं।

2 सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवन्ति ॥

औपपातिक 56

अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है ।
बुरे कर्म का बुरा फल होता है ।

3 पाबोगहा हि आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ।

सूत्रकृतांग 1/8/7

पापानुष्ठान अन्ततः दुःख ही देते हैं ।

4 सबं सुचिण्णं सफलं नराणं ।

- उत्तराध्ययन 13/10

मनुष्य के सभी सुचरित (सत्यकर्म) सफल होते हैं ।

5 जह वा विसग्ङूस, कोई धेत्तूण नाम तुण्हिक्को ।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो न व मरेज्जा ॥

- सूत्रकृतांगनिरुक्ति 52

जिस प्रकार कोई चुपचाप लुक-छिपकर विष पी लेता है, तो क्या वह उस विष से नहीं मरेगा ? अवश्य मरेगा । उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है तो क्या वह उससे दूषित नहीं होगा ? अवश्य होगा ।

6 सुह परिणामो पुण्णं, असुहो पावंति हवदि जीवस्स ।

- पंचास्तिकाय 132

आत्मा का शुभ परिणाम (भाव) पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है ।

7 रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपा संसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥

- पंचास्तिकाय 135

जिसका राग प्रशस्त है, अन्तर में अनुकम्पा की वृत्ति है और मन में कलुष-भाव नहीं है, उस जीव को पुण्य का आस्तव होता है ।

8

चरिया पमादबहुलाकालुस्तं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावापवादो, पावस्त, य आसवं कुणदि ॥

- पंचास्तिकाय 139

प्रमादबहुलचर्या मन की कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, परपरिताप (पर पीड़ा) और परनिन्दा - इनसे पाप का आस्रव (आगमन) होता है ।

9 पासयति पातयति वा पापं ।

जो आत्मा को बांधता है, अथवा गिराता है वह पाप है ।

10 पुण्णं मोक्षदग्मणविघायं हवति

- निशीथचूर्णि 3329

परमार्थ दृष्टि से पुण्य भी मोक्ष प्राप्ति में विघातक-बाधक है ।

11 न हु पावं हवइ हियं, विसं जहा जीवियत्यिस्त ।

- मरणसमाधि 613

जैसे कि जीवितार्थी के लिए विष हितकर नहीं होता, वैसे ही कल्याणार्थी के लिए पाप हितकर नहीं है ।

12 संसारसंतईमूलं, पुण्णं पावं पुरेकंड ।

- ऋषिभाषितानि 92

पूर्वकृत पुण्य और पाप ही संसार परम्परा का मूल है ।

13 हेमं वा आयसं वावि, बंधनं दुक्खकारणा ।

महग्रहस्तावि दंडस्त णिवाए दुःख दुक्खसंपदा ॥

- ऋषिभाषितानि 45/5

बन्धन चाहे सोने का या लोहे का, बन्धन तो आखिर दुःखकारक ही है । बहुत मूल्यवान दण्ड (डंडे) का प्रहार होने पर भी दर्द तो होता ही है ।

14 त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति -

स्वामीद्रोहः स्त्रीवधो बालवधश्चेति

- नीतिवाक्यमृतं 26/65

स्वामी वध, स्त्री वध और बच्चे का वध ये तीन महापाप हैं, जिसका कुफल मनुष्य को इसी लोक में तत्काल भोगना पड़ता है ।

15 अहियं मरणं अहियं जीवियं पावकम्मकारीणं ।
तमिसम्मि पंडति मया वेरं वड्ढांति जीवितां ॥

- उपदेशमाला 444

पापियों का जीना और मरना दोनों अहितकारी हैं क्योंकि वे मरने पर अन्धकार-दुर्गति में पड़ते हैं और जीवित रहकर प्राणियों के साथ बैर बढ़ाते हैं ।

16 पतति कदाचिन्नभसः खाते, पातालतोऽपि जलमेति ।
दैवमचिन्त्य बलवद् बलवान्नु पुरुषकारोऽपि ॥२८॥
अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकरेण ।
दैवमिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टाख्यः ॥२९॥

अपरीक्षित कारक, पंचतंत्र

यद्यपि अचिंत्य भाग्य तो बलवान् होता ही है, कभी पुरुषार्थ भी बलवान् हो जाता है । क्योंकि, कभी (वर्षाकाल में) तो पार्नी आकाश से जलाशय में गिरता है और पुरुषार्थ से खोदे हुए जलाशय में पाताल से भी निकलता है, अर्थात् कभी पार्नी आकाश से जलाशय में गिरता है और कभी पुरुषार्थ द्वारा पाताल से भी जलाशय में निकलता है ।

पुरुषार्थ से ही मनुष्य की सारी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं जिसे अदृष्ट या भाग्य कहा जाता है, वह अदृष्ट नाम का ही पुरुष का एक गुण होता है, अर्थात् पुरुषार्थ के अतिरिक्त दैव कुछ नहीं है । पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम भाग्य है ॥

